PATNA UNIVERSITY

RAMDIN READERSHIP LECTURES
1928-29.

HINDU LAW IN ITS SOURCES

BY

MAHAMAHOPADHYAYA DR. GANGANATH JHA
M. A., D. LITT, VICE-CHANCELLOR OF THE
UNIVERSITY OF ALLAHABAD.

PUBLISHED BY THE PATNA UNIVERSITY
PATNA.

1931.

हिन्दू धर्मशास्त्र

मूल ग्रन्थों के अनुसार

उपोद्घात

मैं नहीं कह सकता आज मुझे यहां अपने घर में आ कर परीक्षा देने में कितना हर्ष हो रहा है। आज २६ वर्ष के लगभग हुए मैं अपने देशवास के सुख से बंचित किया गया। यही कारण है कि कदाचित् अधिकांश यहां के विद्यार्थी जिन की अवस्था २०, २५ से अधिक नहीं होगी मुझे अपना नहीं समझते होंगे। पर मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूं कि यद्यपि मैं २६ वर्ष से देशान्तर में भटकता फिरा तथापि मैं ३० वर्ष तक अपने देश में रहा जितने दिन मेरे विद्यार्थी मित्र अभी तक नहीं रह पाये हैं। पर इतनेदिनों बाद देश आ कर मुझे अपना परिचय देना आवश्यक ज्ञात होता है। मेरा जन्म दरभंगा जिला के एक गांव में हुआ था, बाल्यावस्था में ही सौभाग्यवश मैं प्रातःस्मरणीय दरभंगा के भूतपूर्व महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह का कृपापात्र हुआ और उन्हीं के देखभाल में पहले दरभंगा राजस्कूल, फिर Queen's College बनारस, फिर दरभंगा ही में पुस्तकालय के कार्य में रह कर कुछ अंगरेजी और संस्कृत का अभ्यास करने का अवसर मिला। अभाग्यवश उक्त महाराज साहब का देहान्त १८९८ में हुआ। और मुझे १९०२ में देश छोड़ना पड़ा और साथ ही पढ़ने का अवसर हाथ से जाता रहा—पर ईश्वर की कृपा से पढ़ाने का अवसर आ गया। देश से जब मैं १९०२ के अक्तूबर में

चला तो और कहां जाता—' येषां कापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः '—काशी आया, वहां हमारे परम मित्र बाबू गोविन्द दास के उद्योग से १६०२ नोवेम्बर में Dr. Thibaut की कृपा से Muir Central College में संस्कृत का अध्यापक हुआ। १६ वर्ष वहां काम कर के फिर काशी संस्कृत कालेज का प्रिंसिपल हुआ। जिस पद से अभी १६२७ के सेप्टेम्बर में मुझे पेनशन मिल गया। इसी बीच में १६२३ में Allahabad University का Vice-Chancellor हुआ और अब भी हूं।

यह सब तो हुआ। हजारों पृष्ठ के मुंह मैने काले किये—इधर उधर कुछ व्याख्यानें भी दीं—कुछ थोड़ा बहुत यश प्रतिष्ठा भी लाभ की जिस से अपने देश की प्रतिष्ठा में किसी तरह की हानि प्रायः नहीं पहुंची। पर यह सब होते हुए भी—

किं तया हतया राजन् विदेशगतया श्रिया।
अरयो यां न पश्यन्ति यां न भुंजन्ति बान्धवाः॥

इसी से मैने कहा कि आज अपने घर आ कर परीक्षा देने का जो अवसर मिला है उस के लिये मैं यहां की University का बड़ा कृतज्ञ हूं।

१६२०—२१ में मैं Couucil of State का सदस्य था। मैं था nominated official member और nominated officials का काम इन कैांसिलों में बड़े आनन्द का रहता है। काम कुछ नहीं-भार कुछ नहीं—केवल वोट देने के समय उपस्थित रहना इतनाही स्मरण रखना पड़ता है। अब तो Party System जारी होने से प्रायः सभी तरह के मेम्बरों की यही दशा हो रही है। पर किसी कारणवश–कदाचित् बिहारी होने के कारण–मुझे यह पीटी लकीर पर निरुद्देश्य कार्य पसन्द नहीं आया। इससे मैंने सोच विचार कर दो चार ऐसे प्रस्ताव पेश किये जो Government Servant भी पेश कर सकता था। उनमें एक था 'एक तैाल सर्वत्र हो जाय'। प्रायः बिहार भर में— मिथिला में तो अवश्य ही-नानातैाल बरहिंया, चैादहिया, बारहगन्डी, सोलहगंडी बीसगंडी छबीस गंडी इत्यादि इत्यादि के प्रसाद से कितनी ठगाई होती है, सो मैं जन्म भर

भुगतता आया। और अब भी भुगत रहा हूं। यह प्रस्ताव दिल्ली या शिमला में जहां तक सफल हो सकता है हुआ। Government of India ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और घोषणा कर दी गई कि ८० रुपये का सेर, ४० सेर का मन, यही तौल शुद्ध समझा जायगा। मुझे कहा गया कि Government of India इतनाही कर सकती है—और तौलों को रोकना उनके व्यवहार करनेवालों को दण्ड देना इत्यादि कर्तव्य प्रांतिक कौंसिलों Provincial Legislative Council का कर्तव्य होगा। इस पर मैंने बिहार के Council, U. P. के Couucil तथा C. P Council के मेम्बरों को पत्र लिखा कि इस विषय का प्रस्ताव कर के इस बात को अन्तिम सफलता तक पहुचावें। पर इन क्षुद्र बातों की ओर कौन देखता है। इस पर तो लम्बी चौड़ी तडपती हुई वक्तृता नहीं हो सकती थी। इससे आगे कुछ परिणाम नहीं हुआ।

दूसरा प्रस्ताव मेरा यह था कि हिन्दू धर्मशास्त्र—जिसकी दुर्गति आज कल अदालतों में सर्वत्र हो रही है—का प्रामाणिक संग्रह सरकार की ओर से हो। अब तक कहा यही जाता है कि दायभाग आदि Personal Law के विषय में धर्मशास्त्रों ही के अनुसार निर्णय होता है। यह कहां तक सत्य है सो मेरे वकील मित्र भली भांति जानते हैं। अब तो Hindu Law शुद्ध Case Law होता जाता है। कुछ लोगों का कहना है यह ठीक ही हो रहा है। अच्छा ठीक ही सही। पर फिर शुद्ध हृदय से कह नही क्यों देते कि शास्त्रों की मान नहीं होगी। इसी उद्देश्य से मैंने प्रस्ताव किया था। Government की ओर से कहा गया—"प्रस्ताव प्रशंसनीय है हम सब की सहानुभुति है—पर प्रांतीय Government और High Court से परामर्श करना आवश्यक है।' यह परामर्श साल भर तक हुआ—परिणाम मुझ से कहा गया कि अधिकांश लोगों की राय यही ठहरी कि "समग्र धर्म शास्त्र को हाथ में लेना कठिन होगा—यह काम अंशतः होना ही ठीक है"। खैर मैं चुप रह गया। कर क्या सकता था। पर अंशतः खंडशः Hindu Law की Assembly में क्या दुर्दशा हो रही है सो सब लोग देख रहे हैं॥

यह कांड तो यों खतम हुआ। पर मैंने समझा कि जिस उद्देश्य से मैंने प्रस्ताव पेश किया उस उद्देश्य के यत्किञ्चित साधन में जो कुछ

काम मुझ से हो सकता सो करना मेरा कर्त्तव्य है। इसी कारण से मैं एक निबन्ध लिख रहा हूं।

इसी बीच में Patna University की आज्ञा मिली कि जिस किसी विषय पर मैं आठ व्याख्यान दूं। मेरा शरीर अधिक दुर्बल हो रहा है—इससे नये कार्य का भार उठाने का उत्साह नहीं कर सका। जिस विषय में कुछ कार्य कर रहा हूं उसी के कुछ अंश लेकर कुछ दश पांच पन्ने लिख कर इस University के सामने परीक्षा देने के उपस्थित हुआ हूं।

भाषा के विषय में भी कुछ निवेदनीय है। व्याख्यान हिन्दी में होना चाहिये-ऐसी आज्ञा थी। हिन्दी मेरी मातृ भाषा नहीं-यद्यपि अब सुनने लगा हूं कि मैथिली भाषा-विद्यापति की भाषा-भी हिन्दी ही है। पर खेद है कि विद्यापति की भाषा में यदि मैं कुछ लिखूं या कहूं तो University की आज्ञा का उल्लंघन ही लोग समझेंगे। पर इतने से मैं हतोत्साह नहीं हुआ। क्योंकि मैं जानता हूं कि जिस हिन्दी का प्रयोग व्याख्यानों में या ग्रन्थों में किया जाता है सो किसी की भी मातृभाषा नहीं है। जहां हिन्दी संसार के दिग्गजों के बीच 'बिहारी हिन्दी' की हंसी उड़ाई जाती है तहां एक मैथिल पण्डित की हिन्दी की भला क्या गति हो सकती है!

इस क्षमाप्रार्थना की आवश्यकता विशेषतः मैने इसलिये समझा कि मैने अखबारों में पढा कि यहां पटने में भी एक विद्वानों की सभा हुई थी जहां यह सिद्धान्त हुआ कि उर्दू हिन्दी एक ही भाषा है—भिन्न नहीं—इस लिये एक ही सकल साधारण भाषा का प्रयोग व्यवहार में हो सो प्रयास होना चाहिये। इस साधारण भाषा की वायु U. P. प्रान्त में २५, २६ वर्ष से बह रही है। पर वहां तो अब शान्त हो चली है। इसी से अब इधर की ओर चली है। मेरा तो सिद्धान्त है कि मामूली बोल चाल की भाषा कदाचित् एक साधारण हो भी सके परन्तु ग्रान्थिक भाषा-लेख की भाषा कभी साधारण नहीं हो सकती। मैं यह नहीं कहता कि जहां साधारण उर्दू शब्द मिलता हो वहां भी संस्कृत के द्वारा नये पद गढ़ कर लिखे जाएं। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि Literary Urdu मामूली हिन्दू और Literary Hindi मामूली

मुसलमान नहीं समझ सकते। U. P. में २० वर्ष पहले एक खिचड़ी भाषा उत्पन्न करने की बड़ी चेष्टा की गई—जिस भाषा का नाम लोगों ने 'सरकारी हिन्दी' रक्खा था। मेरी तो यह धारणा है कि जब से एक साधारण भाषा का आन्दोलन आरम्भ हुआ है तब से दोनों भाषाओं के भेद बढ़ते ही गए हैं। जैसे जब से और जितना अधिक आन्दोलन Hinc.. Muslim Unity का हुआ है तब से उतना ही अधिक विग्रह बढ़ता ही गया है। ३०, ४० वर्ष पहले न कहीं Unity पर व्याख्यान ही होते थे न कहीं Disuni n ही थी—हिन्दू मुसलमान दोनों अपनी अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट हो कर परस्पर प्रीतिभाव से रहते थे। यही दशा भाषा की भी थी। कई मुसलमान कवियों ने हिन्दी भाषा में काव्य रचे-कितने ही हिन्दू उर्दू के प्रसिद्ध लेखक हुए। जायसी का नाम तो सब लोग जानते हैं। इधर इलाहाबाद University के उर्दू के अध्यापक हफीज सैयद साहब दक्षिण से कई मुसलमानों की लिखी काव्य की पुस्तकें लाये हैं—पुस्तकें ४०० वर्ष से पहले की लिखी हैं। इस ग्रन्थ के २५ या तीस पृष्ठों में अरबी या फारसी शब्दों की संख्या १५, २० से अधिक नहीं है। और सब संस्कृत का अपभ्रंश या दक्षिणी हिन्दी के शब्द हैं। आज तो ऐसा होना असम्भव ही नहीं अनर्थ समझा जायगा।

मेरा इस अवसर पर इतना कहने का उद्देश्य यही है कि मेरी भाषा प्रायः किसी को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी। जो लोग एकभाषाप्रवर्तक हिन्दी में शुद्ध संस्कृत शब्द के प्रयोग को महा पाप समझते हैं उन के सामने तो मैं महा अपराधी होऊंगा—पर जो लोग उर्दू शब्द का लेश भी हिन्दी में नहीं पसन्द करते उन के पास भी मै अपराधी हूंगा। क्योंकि अदालत की कारवाई के सम्बन्ध में बचपन ही से प्रायः उर्दू ही के शब्द सुनता आया हूं। इस से उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रायः बहुत करना उचित और सुगम जान पड़ा। इस से दोनों दल के लोगों के यहां मै क्षमा प्रार्थी हूं।

असल में आधुनिक भाषाओं की तो शोभाही इस में है कि भाषान्तर के शब्दों को अपनावें। इस से हिन्दी में उर्दू के ही नहीं वरन अंगरेजी के भी शब्दों का प्रयोग करें तो हानि नहीं। U. P. में आपलोगों ने सुना

होगा अंगरेजी स्कूलों में गणित इतिहास आदि विषय देशी भाषाओं में पढ़ाए जाते हैं, और इस में जो भाषा देशी–हिन्दी तथा उर्दू समझी जाती है उस का नमूना यों है

A B C Triangle DEF Triangle के equal है। Akbar की administrative policy को Shahjehan नेभी continue किया।

पर इस में घबड़ाने की कोई बात नही है। संस्कृत में भी बाह्यदेश के शब्दों का प्रवेश होता आया है। आप लोगों में कुछ लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि कुमारिल के समय तक 'पिक' शब्द संस्कृत नहीं था— म्लेच्छ भाषा से लेकर संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग होने लगा था। जब संस्कृत में म्लेच्छ भाषा के शब्दों का प्रयोग होता आया तब हिन्दी में भला उर्दू या अंगरेजी शब्दों के प्रयोग में क्या अनुचित हो सकता है।

स्कूलों की भाषाओं से भाषाप्रेमियों को सन्तुष्ट देख कर ही मैंने भी इन व्याख्यानों को हिन्दी में लिखने का साहस किया है। आशा करता हूं आप लोग क्षमा करेंगे और चिरकाल से भूला भटका अपने एक भाई को घर लौटने पर कृपादृष्टि से देखेंगे और जो कुछ मैं टूटी फूटी भाषा में वकूं उसे दया पूर्वक सुनेंगे।

——:※:——

अध्याय (१)

अवतरणिका

Bryce ने अपने Studies in History & Jurisprudence में लिखा है कि देश विशेष के अनुभवों का सारांश उस देश के धर्मशास्त्र में संग्रथित रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि भारतवर्ष के प्राचीनतम अनुभवों का सारांश हम जानना चाहते हैं तो हमें यहां के धर्मशास्त्रों का अध्ययन परिशीलन विवेचन करना आवश्यक है। यह परिशीलन सफल भली भांति तभी हो सकता है जब हम इसके मूल ग्रन्थों ही से विचार आरम्भ करेंगे और अपनी तरफ से अपनी रुचि

के अनुसार उनका तोड़ मरोड़ कर अपने सिद्धान्तों को उनके मथ्थे डालने का प्रयत्न नहीं करेंगे---इस प्रकार का शुद्ध निष्पक्षपात परिशीलन हमारे धर्मशास्त्रों का प्रायः आज तक नहीं हुआ। प्राचीन काल से अब तक जिनलोगों ने हमारे धर्मशास्त्र पर लिखा सभों ने प्रायः पहले ही अपने सिद्धान्तों को स्थिर कर लिया तब मूल ग्रन्थों का विचार करने चले। फल इसका जो होने का सोही हुआ। विचार निष्पक्षपात नहीं हो सका। जहां कहीं पूर्वनिश्चित सिद्धान्त से कोई मूल ग्रन्थ विरुद्ध पड़ा तहां लिखनेवाले ने लिख दिया 'अप्रमाणमेतत्' 'अनाकरमिदम्' This is an interpolation, इत्यादि। आज हम इस प्रकार के विचार पर प्रस्तुत नहीं हैं। मेरा उद्देश्य होगा केवल मूल ग्रन्थों ही को आप के सामने रखना--मैं अपना सिद्धान्त प्रायः कहीं भी नहीं कहूंगा। इसको प्रायः कुछ लोग मूर्खता या अन्धविश्वास कहेंगे। इसीसे मैने आरम्भ ही में यह कह देना आवश्यक समझा।

हिन्दुओं के धर्मशास्त्र का मूल वेद है। वेद के अतिरिक्त और कुछ भी धर्म का मूल नहीं माना जा सकता। शास्त्रकारों ने धर्म का लक्षण ही ऐसा किया है। मनुष्य के कल्याण के लिये जो कुछ वेद में कहा गया है वही धर्म है (जैमिनिसूत्र १।१।२)। इसके तात्पर्य को वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने तीन सिद्धान्त रक्खे--(१) मनुष्य के लिये क्या कल्याणकर है सो वेद से जाना जा सकता है---(२) केवल वेद ही से जाना जा सकता है---(३) वेद से जो जाना जाता है सो ठीक ही है। वेद सर्वथा प्रामाणिक है इसका हेतु यही कहा गया है कि कोई भी वाक्य मिथ्या तभी होता है जब कि उसके कहनेवाले का ज्ञान कच्चा हो या कहनेवाला ही झूठा हो--या और किसी तरह का दोष कहनेवाले में हो। वेद किसीके बनाये नहीं हैं। वे नित्य हैं। इसलिये कहनेवाले के दोष की सम्भावना उनमें नहीं हो सकती। जब कहनेवाला ही नहीं तब उसके दोष कहां से हो सकते? इस बात पर धर्मशास्त्रियों का इतना आग्रह है कि वे ईश्वर तक को वेद के रचयिता मानना स्वीकार नहीं करते---कदाचित् ईश्वर में कुछ ऐसा दोष हो जिससे उनकी कही हुई बात भी अविश्वसनीय हो जाय। जिनको ईश्वर के प्रसङ्ग ऐसी कोई सम्भावना असम्भव जान पड़ती है उनके लिये वेद को ईश्वर का

रचा हुआ मानने से भी वेदों के प्रमाण में कोई धब्बा नहीं लगता। ईश्वर सर्वज्ञ हैं, इससे उनके रचे वेद सर्वथा प्रामाणिक ही हो सकते हैं।

वेद किसको कहते हैं, इसके प्रसंग प्राचीन ग्रन्थकारों का सिद्धान्त है कि संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् ये तीनों 'वेद' हैं। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि संहितामात्र को वेद कह सकते हैं। पर मेरी समझ में यदि ब्राह्मण तथा आरण्यक और उपनिषदों को वेद से पृथक् कर लें तो वेद निस्सार, निष्प्राण रह जायगा। ये तीनों वेद के तीन खंड हैं, तीनों के पृथक् २ उद्देश्य हैं—तीनों ही नित्य, निर्दोष, स्वतःप्रमाण हैं। ऐसा हिन्दुओं का सिद्धान्त है। पर आधुनिक पंडित इन तीनों खण्डों में एक प्रकार का पौर्वापर्य स्थिर करते हैं। इन के मत से वेदों का संहिता अंश सबसे प्राचीन है—उसके पीछे ब्राह्मण—और सबसे पीछे उपनिषद्। इन तीनों खण्डों के विषय ऐसे हैं जिससे लोगों को ऐसे पौर्वापर्य का भ्रम होता है। संहिताओं में प्रायः अधिक कर के स्तुतियां पाई जाती हैं—और कर्तव्य कर्मों की आज्ञा साक्षात् रूप से कम पाई जाती है—ब्राह्मणों में कर्तव्य कर्मों का उपदेश है और उनकी कार्यप्रणाली भी वर्णित है—उपनिषदों में इन आदेशों के असली तत्व का उपदेश है। इसी मूल पर कहा जाता है कि आदि में केवल संहिता थी—उससे जब लोगों को भली भांति ज्ञान होने में बाधा देख पड़ी तब ऋषियों ने उनको स्पष्ट करने के लिये ब्राह्मणों की रचना की—और जब इन ब्राह्मणोपदिष्ट कर्म के फलों से विद्वानों की तुष्टि नहीं हुई तब लोगों ने गूढ विचार कर के उन तत्वों को निकाला जिन का उपदेश उपनिषदों में पाया जाता है। पर इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना होगा कि उस प्राचीन काल में जिस को लोगों ने 'वैदिक काल' कहा है जो ऋषि थे वे उपनिषद् के तत्वों को नहीं जानते थे। ऐसी सम्भावना पाश्चात्य विद्वानों के मन में आ सकती है जिन के हिसाब से बाप से बेटा अधिक ज्ञानी होता है—पर इस देश के वासियों के मन में तो प्रायः यह बात नहीं बैठ सकती कि जैसे जैसे पीछे लोग हुए वैसे २ उन के ज्ञान और विद्या में वृद्धि होती आई। बात तो असली यों है कि एक ही काल में तीनों तरह के मनुष्य होते हैं—आज कल्ह भी हैं। कुछ लोग ऐसे

बिश्वासपरायण भक्त हैं कि उपदेश मात्र को बिना विचारे, विना समझे-मान कर उसके अनुसार बरतने लगते हैं। कुछ ऐसे हैं जो उन उपदेशों को समझने का प्रयत्न करते हैं—और अपने से अधिक विद्वानों से पूछ पाछ करते हैं। और कुछ लोग ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि संहिता तथा ब्राह्मणों में जो कर्त्तव्य यज्ञादि कहे गये हैं उनका चरमफल स्वर्ग कहा गया है—पर स्वर्ग तो ऐसा पदार्थ नहीं ज्ञात होता जिसको हम अपना परम पुरुपार्थ मान लें—क्योंकि अन्ततो गत्वा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोंके विशन्ति'—फिर भी स्वर्ग से इस संसार में ही यदि आना हुआ तो यह कोई ऐसा पुरुपार्थ होता चाहिये जिसका ह्रास किसी प्रकार नहीं हो जिस को ही हम अपना परम पुरुपार्थ मान सकें। ऐसों ही के लिये उपनिषद् है। क्या यह असम्भव है कि एक ही समय में इन तीनों तरह के मनुष्य देश में रहे हों? फिर संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों में पौर्वापर्य का हेतु क्या रह जाता? क्या ये तीन तुल्य ही नित्य सनातन नहीं माने जा सकते? फिर यह भी विचारने की बात है कि गूढ दार्शनिक तत्व केवल उपनिषदों ही में नहीं पाये जाते, वेदान्त का चरम सिद्धान्त—"एकंसद् विप्रा बहुधा वदन्ति" तो ऋग्वेदसंहिता ही में पाया जाता—और यही संहिता सब से प्राचीन मानी गई है।

समय बीतने पर कुछ तो लोक की परिस्थिति बदलने से और कुछ भाषा की अधिक प्राचीनता के कारण वैदिक उपदेशों का समझना और यथावत् बरतना कठिन होने लगा, तब ऋषियो ने उन उपदेशों का देशकालानुसार कुछ हेर फेर कर उपदेशग्रन्थों की रचना की। वैदिक उपदेशों को मनमें रख ही कर इन ग्रन्थों की रचना की गई—इसीसे ये 'स्मृति' नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि स्मृतियों में जो कुछ है सो सब किसी न किसी रूप से वेद में अवश्य है—जो स्मृतियों के अंश वेद के विरुद्ध हैं वे प्रामाणिक नहीं हैं—ऐसा सिद्धान्त है, तथापि स्मृतियों की समालोचना से यह बात स्पष्ट है कि स्मृतियो के लिखे जाने का कारण देशकालपरिवर्त्तन का अनुरोध ही था। अन्यथा इनके रचने की आवश्यकता ही क्या थी? यही कारण है कि सभी स्मृतियों में सब ऋषियों में एकवाक्यता नहीं पाई जाती।

ये स्मृतियां रची तो गईं, पर इन में दृढ़ विश्वास लोगों को आदि में नहीं हुआ। इस अविश्वास के मूल कारणों को कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक में यों बतलाया है—" इन स्मृतियोंके कर्त्ता मनुष्य हैं—इस लिये अपौरुषेय वेद की तरह इन का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता। मन्वादि स्मृतियों का प्रामाण्य मन्वादि ऋषियों की स्मरणशक्ति पर निर्भर है। फिर मनुष्य के वचन में कई तरह की अप्रामाण्य-शंका हो सकती है। फिर भी इन को वैदिक धर्मावलम्बियों ने प्रमाण माना है। इस से ये सर्वथा अप्रामाणिक ही हैं यह भी नहीं कहा जा सकता।

इस सन्देह का निराकरण तभी हुआ जब भली भांति समालोचना करने पर यह स्पष्ट हुआ कि स्मृतियों में कुछ नई बात नहीं है—वेद में ही कही हुई बातों को विशद, समझने योग्य शब्दों में कहा है। एक वार जब स्मृतियों में लोगों का विश्वास जम गया तब उन में भी लगभग वेद के तुल्य ही श्रद्धा होने लगी—और यदि कहीं स्मृति में कही बातों का समर्थक वेद में नहीं पाया तो इसके साधन में नाना प्रकार की युक्तियां निकाली जाने लगीं। लोग यह कहने लगे कि वेद की कई शाखायें लुप्त हो गई हैं—मनु, याज्ञवल्क्यादि ऋषि वेद के विरुद्ध कभी नहीं लिख सकते—जहां कहीं इनके समर्थक वाक्य हमें वेद में नहीं मिलते वहां यही मानना उचित होगा कि ये वाक्य उन शाखाओं में होंगे जो अब उपलब्ध नहीं हैं। विशेष कर जब स्मृतिकार स्वयं कहते हैं कि वेद ही धर्म का एक आधार है।

परन्तु आचार व्रत प्रायश्चित्तादि विषय में तो यह वेदमूलकता स्मृतियों की स्पष्ट जानी जासकती है। पर व्यवहारविषय में यह सम्बन्ध वैसा स्पष्ट नहीं है। तथापि इन विषयोंकी भी कुछ सूचनाएं वेद में मिल जाती हैं। जैसे पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों का अंश बराबर होना चाहिये—स्मृत्युक्त नियम का मूल वेद में वह वाक्य कहा जाता है जहां लिखा है कि भगवान् मनु ने अपनी सम्पत्ति को अपने लड़कों में बराबर बांटा।

कौन से किस प्रकार के ग्रन्थ 'स्मृति' कहे जा सकते हैं सब बराबर दर्जे के हैं या इनमें किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य है। इसके प्रसंग ग्रन्थकारों में कुछ मतभेद है। नवीन ग्रन्थकारों ने इतिहास, पुराण, धर्म-

सूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र—मन्वादि २८, ३६ वा ४८ धर्मशास्त्र। इन सभों को एक ही दर्जे की 'स्मृति' मानी है। पर कुमारिल ने इस विषय में कुछ विवेक सा किया है। उनके मतसे पुराण, इतिहास, मनुस्मृति ये तीन एक पृथक् ऊंचे दर्जे में रक्खे गये हैं क्योंकि इनका प्रामाण्य समस्त आर्यावर्त्त पर है। बाकी जितनी स्मृतियां हैं सब कुछ नीचे दर्जे की हैं क्योंकि इनका प्रामाण्य उतना सर्वव्यापी नहीं है। जैसे कुमारिल (कुमारिल के अनुसार) गैातम और गोभिल ऋग्वेदियोंके लिये प्रमाण हैं—शङ्ख और लिखित वाजसनेयी यजुर्वेदियों के लिये—आपस्तम्ब और बैाधायन तैत्तिरीय यजुर्वेदियों के लिये। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कुमारिल के मत से इन स्मृतियों के प्रामाण्य में किसी प्रकार की न्यूनता है। कुमारिल ने इनके प्रामाण्य को सर्वव्यापी नहीं बतलाया—इसका इतना ही मतलब है कि इनके प्रामाण्य के प्रसंग की ऐसी स्थिति देशों के व्यवहार में थी—न कि गैातम या गोभिल के वाक्य वाजसनेयियोंके लिये प्रमाण हो ही नहीं सकते—या आपस्तम्ब ऋग्वेदियों के लिये। जितनी वेदमूलक स्मृतियां हैं उनके प्रामाण्य भी वैसे ही सर्वव्यापी होनी चाहिये जैसे वेद की। परन्तु व्यवहार में कुछ लोग एक को प्रमाण मान कर काम चलाते हैं—दूसरों ने दूसरी को—इसका कारण यह है कि सब लोग सभी स्मृतियों के उपदेशों को एक साथ व्यवहार में नहीं ला सकते—कुछ लोगों को एक स्मृतिके अनुसार काम करने मे सुभीता हुई और लोगों कों दूसरी स्मृति के अनुसार। यह कारण सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि इन स्मृतियों में—जैसे वसिष्ठ और गैातम की स्मृतियों में—कोई ऐसे बहुत विभेद नहीं पाये जाते, जिससे कि किसी प्रान्तके आदमी दोनों के अनुसार व्यवहार नहीं कर सकते। भेद अवश्य हैं पर ऐसे नहीं कि जो आदमी एकके अनुसार व्यवहार करेगा सो दूसरी के अनुसार करही नहीं सके। असल कारण यह है कि मनु [और प्रायः याज्ञवल्क्य] की स्मृतियों को छोड़ कर और जितनी स्मृतियां हैं सभी देशविशेष या कालविशेष या अवस्थाविशेष के लिये आवश्यकतानुसार लिखी गईं। इसी कारण स्मृतियों में भेद पाये जाते हैं। देश-काल-अवस्था विशेष के अनुसार धर्मशास्त्रों में परिवर्त्तन सदाही से होता आया—जब तक हिंन्दू-समाज सजीव रहा।

जैसे पहले कहा जा चुका है देश काल अवस्था के भेद ही इतनी भिन्न २ स्मृतियों के बनने का कारण हुआ। देश काल अवस्था भेद का विचार शास्त्रकार बराबर करते आये हैं इसका यह भी एक प्रमाण है कि प्रायः सभी प्रधान स्मृतियों में कुछ 'आपद्धर्म' बतलाये गये हैं। जिस से यह सूचित होता है कि अवस्थाविशेष में मुख्यधर्म का परित्याग भी उचित हो सकता है। ये आपद्धर्म मनुस्मृति में दशम अध्याय में पाये जाते हैं।

कुछ और समय बीतने पर स्मृतियों से काम नहीं चला, देश की अवस्था ऐसी बदल गई कि प्राचीन स्मृतियों के अनुसार व्यवहार असम्भव होने लगा। उस समय ऋषियों का अभाव हो गया था —इससे नवीन स्मृतियां नहीं बन सकीं। इस लिये केवल शास्त्रीय उपदेशों के अनुसार चलने में कठिनाइयां देख कर लोग सज्जनों के आचरण देख कर तदनुसार चलने लगे। इसका तत्व यह था कि सज्जन कभी शास्त्रविरुद्ध या किसी प्रकार अनुचित आचरण नहीं कर सकते। इसीसे अब सज्जनों के आचार— 'सदाचार'—प्रमाण माने जाने लगे। प्राचीन समय में भी सदाचार का प्रामाण्य रहा ही होगा। क्योंकि सभी क्षण में सब लोग शास्त्र ही को देखकर व्यवहार नहीं करते रहे होंगे। सज्जनों के दृष्टान्त ही के अनुसार बहुधा सामान्य जनता अपना व्यवहार ठीक करती है। पर जब स्मृतियों का बनना बन्द हो गया तब तो अधिकतर देश-काल-अवस्था भेदेन सदाचार ही पर निर्भर होना आवश्यक हो गया।

सदाचार के प्रामाण्य के विषय में जो शङ्का-समाधान कुमारिल के ग्रन्थ में मिलता है सो बड़ा ही मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। 'सज्जनों के आचार को प्रमाण मानना ठीक नहीं'—इस पक्ष में ये युक्तियां पाई जाती हैं।

"इतिहास से ज्ञात होता है कि बड़े बड़े लोगों ने सयय समय पर बड़े ही अत्याचार किये हैं :—प्रजापति अपनी कन्या के पीछे दौड़े, इन्द्र अहल्या के जार हुए—अपने पुत्रों के मरने के शोकमें वशिष्ठ आत्महत्या करने चले—भीष्म ने जन्मभर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे जो क्षत्रियोंके लिये निषिद्ध है—अपने छोटे भाई अर्जुन से जीती हुई द्रौपदी से युधिष्ठिर ने विवाह किया—मिथ्या बोल कर अपने ब्राह्मण गुरु की हत्या की। आज

कल्ह (कुमारिल के दिनों में) अहिच्छत्र और मथुरा की ब्राह्मण स्त्रियां मद्यपान करती हैं–उत्तर (काश्मीर) देश के ब्राह्मण सिंह, घोड़ा, खच्चर, गधा, ऊंट, इत्यादि जानवरों का व्यापार करते हैं—अपनी स्त्री, लड़के तथा मित्रों के साथ एक ही थाली में भोजन करते हैं–दक्षिण देशवासी अपनी ममेरी बहिन से शादी करते हैं और कुरसी पर बैठ कर खाते हैं–उत्तर में और दक्षिण में भी अपने मित्र और सम्बन्धियों का जूठन खाते हैं–सब जाति से स्पृष्ट पान खाते हैं–खाने के बाद मुंह नहीं धोते–धोबी के लाये हुए कपड़ों को बिला धोए ही पहन लेते हैं, इत्यादि।

इन अत्याचारों का उल्लेख आपस्तम्ब ने भी किया है–'दृष्टोधर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम'। पर वे कहते हैं कि प्राचीन काल के लोगों में अमानुषी शक्ति थी, इस से वे ऐसे २ काम कर सकते थे और उसे सम्हाल भी लेते थे—आधुनिक लोग वैसा करें तो विपत्ति में फसें। तुलसीदास जी ने भी कहा है–'समरथ कों नहिं दोष गुसाईं। रवि, पावक सुरसरि की नाईं॥" (शंकराचार्य drinking molten lead)

पर कुमारिल ने इस दुर्ग विषय को इस तरह नहीं टरकाया है उन्हों ने इन सब घटनाओं का दूसरा तात्पर्य बतला कर सज्जनों का आचार दुराचार कभी हुआ न हो सकता है यही सिद्धान्त किया है। 'प्रजापति अपनी कन्या के पीछे दैाड़े' इसका तात्पर्य कुमारिल ने यों बतलाया है :–'प्रजापति' शब्द का अर्थ है 'प्रजा का पालन करनेवाला'–इस अर्थ में 'प्रजापति' नाम सूर्य का है। उषा सूर्य की 'कन्या' है–क्योंकि सूर्योदय ही से वह उत्पन्न होती है उषाकाल के अनन्तर पीछे—सूर्य उदित होते हैं। इसी को वैदिक कविने 'प्रजापति का अपनी कन्या के पीछे दैाड़ना' कह कर वर्णन किया है।

इन्द्र–अहल्या के विषय का तात्पर्य यों है। 'इन्द्र' शब्द का यैागिक अर्थ है 'चमकनेवाला' इससे 'इन्द्र' सूर्य का नाम हुआ। 'अहल्या' शब्द का 'अहनि लीयते' 'दिनमें छिपनेवाली' ऐसा अर्थ है। इससे 'अहल्या' रात्रि का नाम हुआ। 'जार' पद का अर्थ है 'नाश करनेवाला' इससे 'इन्द्र अहल्या का जार' इसका अर्थ हुआ 'सूर्य रात्रि का नाश करनेवाला है'।

भीष्म के नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने के प्रसंग यह कहा जाता है कि एक तो यह कर्म --जन्म भर ब्रह्मचारी रहना--कोई दुराचार नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही अपराध इसमें है कि क्षत्रियों के लिये ऐसा ब्रह्मचर्य विहित नहीं है। परन्तु भीष्म ने जो यह व्रत किया सो अपने लिये नहीं, केवल अपने पिता के लिये। इससे अविहित व्रत करने का जो कुछ प्रत्यवाय हुआ भी हो तो उससे कहीं बढ़ कर पुण्य पिता के इष्टसाधन का हुआ।

द्रौपदी के प्रसंग कई तरह के तात्पर्य वर्णन किये गये हैं। (१) उनका जन्म यज्ञवेदी से हुआ, वे मनुष्य नहीं–लक्ष्मी के अवतार थीं–लक्ष्मी का कोई एक पति नही हो सकता। (२) पांचो पांडवों की एक नहीं पांच स्त्रियां थीं–पर वे इतनी सदृशरूप की थीं कि कविने उनको एक ही कह कर एक नामसे वर्णन किया है। (३) द्रौपदी अर्जुन से जीती गई–उन्हीं की स्त्री थीं–महाभारत में जो पाचो भाइयों की स्त्री कह कर वर्णन किया है उस का केवल इतना ही तात्पर्य है कि पांचों पांडवों में असाधारण प्रीति और एकता थी---कवि ने अत्युक्ति रूपेण इस को कहा है।

अपने समय के आचार के प्रसंग कुमारिल ने स्पष्ट लिखा है कि श्रुति या स्मृति के विरुद्ध जो आचार है सो कभी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इनके प्रसंग कुमारिल का सिद्धान्त यों है :--

जब हम देखते हैं कि कोई काम ऐसा है जिसे सज्जन करते हैं–पर उसका प्रमाण श्रुति या स्मृति में नहीं है और इसका कारण लोभ इत्यादि निन्द्य प्रयोजक नहीं है तो ऐसे व्यवहार को हम ‘ सदाचार ’ मान सकते हैं। क्योंकि जब हम जानते हैं कि करनेवाले सज्जन हैं, विद्वान् हैं, और काम ऐसा है जो लोभादि प्रयुक्त नहीं है–तो हम भली भांति मान सकते हैं कि इनका मूल कहीं न कहीं श्रुति या स्मृति में अवश्य होगा।

यहां एक बात और ध्यान रखना चाहिये—सज्जन जो काम करें सो सब ‘ सदाचार ’ नहीं कहलाते। जो काम सज्जन धर्म, कर्त्तव्य, समझ कर करें, जिसकी प्रशंसा आर्यजन करें वही ‘ सदाचार ’ है।

अपनी मनस्तुष्टि भी प्रमाण मानी गई है। किन्तु इसके प्रसंग सिद्धान्त यह है कि इसका प्रामाण्य ऐसे ही विषयों में है जहां अनेक

विकल्प बिहित हैं, इनमें कैानसा विकल्प व्यवहार में लाया जाय इसमें केवल कर्त्ता की मनस्तुष्टि ही निश्चायक हो सकती है। जैसे परीक्षाओं में जब दो तीन वैकल्पिक प्रश्न दिये जाते हैं तब कैान से प्रश्न का उत्तर लिखा जाय इसमें परीक्ष्य का मन ही प्रमाण हो सकता।

इन्हीं प्रमाणों को मन में रखते हुए मैथिल ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः (१. ७)।

जिससे स्पष्ट है कि यद्यपि मीमांसा का मूल सिद्धान्त था कि वेदमात्र धर्मके प्रमाण हैं तथापि हमारे शास्त्रकार देश, काल, अवस्था के अनुरोध से प्रमाण के सीमा को क्रमशः बढ़ाते आये। अटल सिद्धान्त के कट्टर पक्षपाती नहीं बने रहे। श्रुतिवाक्य भी जब कभी अनर्गल देख पड़े, तो उनको 'अर्थवाद' कह देने में शास्त्रकारों ने कुछ भी सङ्कोच नहीं किया। स्मृतिवाक्यों को अनर्गल, अप्रमाण इत्यादि कह देना तो कुछ बात ही नहीं। निबन्धकारों ने बहुशः ऐसा किया है। आवश्यकता पड़ने पर श्रुतिवाक्यों के भी अर्थों के उलट फेर कर दिये गये हैं। इसका एक दृष्टान्त वीरमित्रोदय से यहां पर्याप्त होगा।

श्रुतिमें कहा है कि आत्मज्ञान श्रुतिद्वारा ही हो सकता है—फिर श्रुति ही में यह भी लिखा है शूद्र वेद नहीं पढ़ सकता—तब यह शङ्का उठी कि शूद्र को फिर आत्मज्ञान कैसे हो सकता है ? क्या शूद्र आत्मज्ञान और मुक्ति से सदा वंचित ही रहेगा। ग्रन्थकार कहते हैं—नहीं, शूद्र को भी आत्मज्ञान हो सकता है—पर वेदों के द्वारा नहीं, पुराणों के द्वारा। यह तो हुआ, पर इस पक्ष का सामञ्जस्य उस श्रुतिवाक्य से कैसे होगा जहां लिखा है कि आत्मज्ञान वेद से ही हो सकता है। ग्रन्थकार ने कहा है—यह वेदवाक्य केवल उन्हीं लोगों के प्रसंग कहा है जिन को वेद पढ़ने का अधिकार है—अथवा उस वाक्य का तात्पर्य इतना ही है कि आत्मज्ञान शब्दप्रमाण छोड़ कर और किसी प्रमाण, अनुमान आदि से नहीं हो सकता। ऐसी व्याख्या से उक्त वेदवाक्य की क्या दशा हो जाती है सो स्पष्ट है।

इन प्रमाणों के परस्पर गुरुता के प्रसंग भी कालक्रम से सिद्धान्त बदलता आया है। प्राचीन समय से शबरस्वामी के समय (ऐशवीय

संवत् के प्रारम्भ) तक ऐसा सिद्धान्त था कि सबसे गुरु प्रमाण 'श्रुति,' उस के नीचे 'स्मृति'—उसके नीचे 'आचार'। अर्थात् स्मृति के विरुद्ध आचार का प्रामाण्य नहीं—और श्रुति के विरुद्ध स्मृति का प्रामाण्य नहीं। अर्थात् जहां श्रुति में एक उपदेश हो और स्मृतियों में उसके विरुद्ध—वहां स्मृत्युक्त उपदेश परित्याज्य है। पर कुमारिल के समय (ऐशवीय सप्तम या अष्टम शताब्दी) स्मृतियों का गौरव इतना बढ़ गया कि कुमारिल ने यह सिद्धान्त किया कि जहा श्रुति में एक उपदेश हो और स्मृति में उसके विरुद्ध—ऐसी दशा में स्मृत्युक्त उपदेश परित्याज्य नहीं है—प्रत्युत ऐसी जगह मे दोनों उपदेशो की दो विकल्प समझना अर्थात् दोनों का दरजा बराबर है। इनका कहना है कि प्रथमतः तो श्रुति स्मृति में परस्पर विरोध ही नहीं हो सकता—पर यदि विरोध पाया भी जाय तो दोनों को तुल्यबल समझना चाहिये—क्योंकि पहले सिद्धान्त कर आये हैं कि स्मृतियों में जो कुछ है सबका मूल वेदमें अवश्य है—इसलिये श्रुति स्मृति का विरोध जहां हो तहां दो श्रुतियोंका ही विरोध हुआ—और दोनों पक्षों को तुल्यबल विकल्प ही समझना उचित है।

यह हुई प्रामाण्यपरम्परा की दूसरी कक्षा—जब स्मृति श्रुति के तुल्य समझी जाने लगी। तीसरी कक्षा हमें निबन्धों में मिलती है। निबन्धों में श्रुति की चर्चा बहुत कम पाई जाती है। प्रायः जहां स्मृति नहीं मिली वहीं श्रुतिवाक्य उपस्थित किये गये। इसका कारण प्रायः यही था कि स्मृतिवाक्योंके अन्वेषण में और उनके हेरफेर में उतना यत्न नहीं अपेक्षित था जितना श्रुतिवाक्यों के। अथवा यथार्थ ही श्रुतिवाक्यों से अधिक प्रमाण लोग स्मृति ही को मानने लगे। वीरमित्रोदय में तो एक जगह स्पष्ट लिख दिया (परिभाषा पृ० २७) कि स्मृतिवाक्य ने श्रुतिवाक्य को बाधित कर दिया। श्रुतियों में अग्निहोत्र गृहस्थमात्रके लिये आवश्यक कर्म बतलाया है—फिर द्विजोंके लिये चतुर्थ आश्रम संन्यास का भी उपदेश है—परन्तु स्मृतियो में कहा है कि कलियुग में अग्निहोत्र नहीं करना—संन्यास ग्रहण भी नहीं करना। ऐसी दशा में वीरमित्रोदय ने सिद्धान्त किया कि ये दोनों कर्म आज कल्ह कलियुग में नहीं करना—अर्थात् श्रुत्युक्तविधि स्मृत्युक्त निषेध से बाधित हो गया।

कुछ दिन और बीतने पर जब शास्त्रीय विद्वानों की योग्यता तथा संख्या कम होने लगी---और राजा भी प्रायः विदेशी तथा विधर्मी हुए जिनकी श्रद्धा प्राचीन शास्त्रों पर नहीं रह सकती थी—विवादनिर्णायक महाशयों को श्रुति स्मृति की एक तो जिज्ञासा ही कम हो चली और दूसरे यदि किसी की जिज्ञासा हुई भी तो अदालती पण्डितों के प्रभाव से वह भी शिथिल हो गई। फिर और कोई उपाय न रहा, आचार ही पर लोग निर्भर होने लगे। पर इस परिवर्त्तन के आरम्भ में इतना ही था कि जिस विषय में श्रुतिस्मृति नहीं मिलती थीं उन्हीं विषयों में आचार का प्रामाण्य माना जाता था. और श्रुतिस्मृति के विरुद्ध आचार हेय समझा जाता था। पर अब तो यह दशा होगई है कि श्रुति स्मृति-निबन्ध सबके ऊपर प्रामाण्य आचार का माना जाने लगा है। उच्च से उच्च निर्णायक पदाधिकारी निस्संकोच यह कहने लगे हैं कि श्रुतिस्मृति वाक्यों का अन्वेषण करना अब सर्वथा व्यर्थ है।

ऊपर जोकुछ कह आये हैं उससे यह स्पष्ट हुआ होगा कि हमारा 'सनातन' धर्म अन्धपरम्परा कभी नहीं रहा है। बराबर कमसे कम १००० वर्ष पहले तक देशकालादि के अनुरोध से परिवर्तन होते आये हैं। यही तात्पर्य है मनुभगवान के वाक्य का—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे। ✓
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः (१।८५) ॥

पराशर ने भी ऐसाही कहा है—केवल भेद इतनाही है कि मनु ने इस धर्मभेद का कारण बतलाया है 'युगभेद से मनुष्यों के सामर्थ्य मे ह्रास', और पराशर ने 'युगके स्वभाव ही' को कारण बतलाया है। इन वाक्यों की व्याख्या करते हुए वीरमित्रोदय (परिभाषा ४६) ने लिखा है कि 'जैसे जैसे कालभेद से मनुष्यों की धर्मानुष्ठानशक्ति कम होती गई वैसे ही धर्म में भेद होता गया'। इसी बात की पुष्टि बौधायन ने भी की है—'अपनी शक्ति के अनुसार नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये'। ऐसाही कूर्मपुराण में भी कहा है॥ इसी आशय से पराशर ने फिर कहा है–'सत्ययुग के धर्म मनु ने कहा है–त्रेता के गौतम ने—द्वापर के शंख और लिखित–कलियुग के पराशर'। इसका तात्पर्य वीरमित्रोदय ने यों

वर्णन किया है—मनुस्मृति में जिस प्रकार धर्म का उपदेश किया गया है उन धर्मों के यथावत् अनुष्ठान करने का सामर्थ्य कलियुग के मनुष्यों में नहीं है। पराशरस्मृति उपदिष्ट जो धर्म हैं उन्हीं का अनुष्ठान कलियुग के मनुष्यों से हो सकता है।

देशकाल के अनुसार धर्मशास्त्रों में परिवर्तन तबतक होता रहा जब तक देश में ऐसे राजा थे जिनको धर्म में आस्था थी और जिनकी प्रभुता के कारण नये शास्त्रों की चलन भी हो जाती थी। जैसे मिथिला में पहिले सब से अधिक लक्ष्मीधरकृत कृत्य-कल्पतरु प्रमाण माना जाता था। कार्णाटवंशीय क्षत्रियों के राज्य के समय चण्डेश्वर के रत्नाकर बने और तबसे उन्हीं की मान हुई। फिर उसके बाद कामेश्वर के वंश के ओइन-वारवंशी राजा हुए। जिनके समय में वाचस्पति मिश्र ने अपने चिन्तामणि-रचे—जब वेही प्रमाण माने जानेलगे। उसके बाद जब महेशठाकुर का वंश राज्यारूढ़ हुआ तब बहुत दिनों तक उस वंश के राजाही ऐसे विद्वान् होते आये कि उनकी सभा में कोई प्रधान राजपंडित ऐसा प्रभावशाली नहीं हुआ जिस के ग्रंथ राजाज्ञा से अधिक प्रामाणिक माने जाते। इसलिये यद्यपि इधर भी मिथिला में बहुत से अच्छे निबन्ध बने—जैसे बर्धमान के विवेक देवनाथ की कौमुदियां इत्यादि—तथापि इन का पृष्ठ-पोषक कोई राजा नहीं हुआ, इस से इनकी मान उतनी नहीं हुई जितनी रत्नाकर की या चिन्तामणि की।

हिन्दूधर्मशास्त्रों पर कहीं कहीं जो आक्षेप किये गये हैं उनकी समा-लोचना इस अवसर पर आवश्यक जान पड़ता है।

पहला आक्षेप यह है कि इन धर्मशास्त्रों में आचार प्रायश्चित्त पर अधिक ज़ोर डाला गया है—व्यवहार पर बहुत कम। एक तो यह आक्षेप सर्वथा सत्य नहीं है। जब कोई किसी ग्रंथ की रचना करता है तब आवश्यकता ही के अनुसार उसके खंडों को बांटता है। धर्मशास्त्र-कारों को यदि आचार के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता जान पड़ी और व्यवहार में कम तो इस में उनका क्या अपराध? असल में जिस समय में मूलस्मृतियां लिखी गईं उस समय लोग उतने कलहप्रिय नहीं थे, जिससे व्यवहार के प्रसंग बहुत कुछ विचार या ग्रन्थरचना आवश्यक हो। आचार का विषय ऐसा था कि उन दिनों में सबलोग

दिनरात आचार ही के अनुष्ठान में लगे रहते थे। इस से अधिकांश विचार या तर्क वितर्क आचार ही के प्रसंग पंडितों में हुआ करता था। कुछ यह भी कारण होगा कि धर्मिष्ठ लोगों को सांसारिक विषयों में उतनी आस्था नहीं होती जितनी पारलौकिक विषयों में। इसलिए आचार या प्रायश्चित्त की ओर ध्यान लोगों का अधिक रहता था। फिर यह भी स्मरण रखना होगा कि जब विदेशी या विधर्मी राजाओं का प्रभुत्व हुआ तब व्यवहार के विषय में ब्राह्मणों को पूछता कौन? आचार और प्रायश्चित्त के विषय में फिर भी उनकी सम्मति पूछी जाती थी। इसका भी अपराध इन ग्रन्थकारों ही के मत्थे टोका गया है। Hindu Law of Adoption (Tagore Law Lectures में लिखा है कि अपने स्वार्थ परवश होकर ये ग्रन्थकार राजनीति और व्यवहार से अपना हाथ खींच कर ऐसे विषयों ही में लगाया जिससे उनका प्रभाव बना रहे।

भला ब्राह्मण विद्वानों ने राजनीति का सम्बन्ध क्या अपनी रुचि से छोड़ा? उस सम्बन्ध से तो उनको बहुतही लाभ रहा होगा। बात तो यह है कि राजनीति और व्यवहार उनके हाथ से छीन लिया गया-- फिर वे करते तो क्या करते?

एक और आक्षेप यह है कि धर्मशास्त्रों में जो नियम लिखे गये उनका यथार्थ प्रतिपालन या व्यवहार में उपयोग कभी नहीं रहा, मनोमोदक रूप से एक आदर्श परिस्थिति का चित्रमात्र उनमें पाया जाता है। समाज की स्थिति ब्राह्मणों की दृष्टि में कैसी होनी चाहिये यही इन ग्रन्थों से ज्ञात हो सकता है—इत्यादि Maine's Ancient Law P. 17)

इस आक्षेप का क्या तात्पर्य है सो समझ में नहीं आता। धर्मशास्त्रो में धर्म का निरूपण है। धर्म जब होगा तब आदर्श ही होगा। फिर यदि धर्मनिरूपक ग्रन्थों में आदर्श समाज का चित्र पाया जाता है तो इस में अनुचित क्या है—यह तो 'भूषणं नतु दूषणम्'। फिर यह भी हम कैसे जान सकते कि इन नियमों का पूर्णरूपेण उपयोग व्यवहार में कभी नहीं हुआ? दोचार सौ बरसों के बाद क्या लोग Indian Penal Code के प्रसंग भी यही नहीं कह सकेंगे? पर ऐसा कहना कहां तक सत्य होगा यह हम लोग समझ सकते हैं। फिर काव्यों में (रघुवंश १—तथा किराता-र्जुनीय २) हम यह लिखा पाते हैं कि राजालोग मनुप्रदिष्टमार्ग ही से

अपना सब काम चलाते थे। फिर मनुस्मृति का उपयोग व्यवहार में कभी नहीं हुआ यह हम कैसे कह सकते हैं ?

आजकल्ह के हिन्दूशास्त्र के विद्वानों ने इस शास्त्र के कई विभाग, मत, 'Schools' माने हैं और इस पर बड़ा जोर दिया गया है। जैसे 'Mitaksara School' 'Mayukha School' 'Mithila School' इत्यादि। इसका भी विचार करना उचित जान पड़ता है।

पहले कह आए हैं कि कुमारिल ने लिखा है मनुस्मृति समस्त आर्यावर्त के लोगों में प्रमाण माना जाता है—और जितनी स्मृतियां हैं उनका प्रामाण्य सर्वत्र व्याप्त नहीं है वेदशाखा विशेष के अनुयायियों ही में ये स्मृतियां प्रमाण मानी गई हैं। पर स्मृतियों के उपदेश असल में सभीलोगों के लिये माननीय हैं---कुमारिल ने दो कारण बतलाये हैं जिन से इसमें किसी तरह का संकोच हो सकता है। एक तो मनुष्यों का अनुष्ठानसामर्थ्य—शास्त्र में जो कर्तव्य बतलाया है सो उन्हीं के लिये जिनको उस कर्तव्य के करने की शक्ति है। जैसे ज्योतिष्टोम याग के उपदेश के सभी द्विजों के प्रति होते हुए भी वह याग उन्हीं का कर्तव्य हो सकता है जिनके पास उस याग में अपेक्षित धन या विद्या हो। दूसरा कारण संकोच का यही हो सकता है कि शास्त्रोक्त विधियों ही में कुछ ऐसे संकोच किये हों। जैसे राजसूय याग का विधि है 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' अर्थात् राजसूय याग राजाही कर सकता है।

प्राचीन काल में धर्मशास्त्रों की प्रादेशिकता केवल इसी प्रकार की मानी गई थी। आजकल जो इनकी प्रादेशिकता मानी जाती है सो दूसरी ही तरह की है। मैंने इस आधुनिक सिद्धान्त को जैसा समझा है उसका तात्पर्य यह है कि जो एक School का धर्मशास्त्र किसी देश विशेष ही में मानागया है—और प्रायः जिस देश में जो शास्त्र रचागया उसी देश में वह प्रमाण माना जाता है और उसी देश के नाम के अनुसार उसका नामकरण भी लोग करते हैं। पर यह बात यद्यपि निबन्धों के प्रसंग कहीं तक सत्य भी हो सकती है पर मूलस्मृतियों के प्रसंग नहीं। इनमें कोई भी ऐसी प्रादेशिकता का मूल नहीं पाया जाता जिससे कोई स्मृति दक्षिण में ही मानी जाय—उत्तर देश में नहीं। देशभेद से कुछ अनुष्ठान में भेद अवश्य हो गया है। पर जैसे कह आये हैं—उसका कारण तत्तद्देश के मनुष्यों का

सामर्थ्य ही है, न कि स्मृतियों की संकुचित प्रामाणिकता। निबन्धकारों में-देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद से मतभेद अवश्य हैं। पर इस बात के आधार पर इन निबन्धों के देशविशेष से सम्बद्ध करने में किञ्चित् भ्रान्ति है। क्योंकि कोई भी निबन्ध—जिनके नाम में School का नामकरण हुआ है-ऐसा नहीं है जिसका सिद्धान्त उसी देश में माना जाता हो, अन्यत्र नहीं। यह कभी नहीं कह सकते कि गुजरात में मयूखमात्र के लोग मानते हैं, मिताक्षरा के नहीं, अथवा उत्तर में केवल मिताक्षरा ही के लोग मानते हैं, मयूख के नहीं। क्योंकि यथार्थ मे इन निबन्धों की रचना और उनके मानेजाने में कोई देशविशेष नियामक नहीं है। मिताक्षरा लिखीगई कनाडी भाषा व्याप्त दूरदक्षिण देश में और आद्दत है उत्तर भारत में—वैसेही मयूख लिखा गया बुन्देलखंड में एक काशी के पंडित द्वारा और आद्दत होरहा है गुजरात में। फिरभी कोई भी धर्मशास्त्री इस बात के नहीं स्वीकार करेगा कि उत्तर भारत में केवल मिताक्षरा ही मानीजाती है सबकार्य उसी के मत के अनुसार होता है। यद्यपि अंगरेजी अदालतों की कृपा से अब हमलोगों के चित्त में मिताक्षरा के प्रति जैसी श्रद्धा हो रही है वैसी प्रायः वेद या स्मृतियों के प्रति नहीं थी। पर यथार्थ में धर्मशास्त्रियों की सभाओं में मिताक्षरा के मतों में भी उतनाही क्षोदक्षेम किया जाता है जितना किसी नये ग्रन्थ के सिद्धान्तों के प्रति। पर व्यवहार में मिताक्षरा के सामने विवश हो कर सिर झुकाना ही पड़ता है।
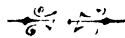
अध्याय २

हिन्दू धर्मशास्त्र के मूलग्रन्थ

पहले अध्याय में सामान्य रूप से हमने देखा कि धर्म के विषय में क्या प्रमाण हैं—अथवा धर्म क्या है इसके जानने के क्या उपाय हैं और कुछ दूर तक इसका भी विचार कियागया कि इन प्रमाणों के बीच गौरव की कोटि देशकाल अवस्था भेद से बदलती आई है। अब इस अध्याय में इन प्रमाणों के प्रसंग सूक्ष्म विचार करना है और यह भी देखना है

कि इनकी आपेक्षिक प्रामाणिकता के प्रसंग हमारे ग्रन्थकारों का क्या सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में इन प्रमाणों के और विवेचक ग्रन्थों के पौर्वापर्य का भी ध्यान कुछ कुछ रखना होगा। पर यदि हम इस पौर्वापर्य के झगड़ों में पड़ेंगे तो मुख्य विषय पीछे पड़जायगा। इसलिये ग्रन्थों के पौर्वापर्य के विषय में जैसा सिद्धान्त आजकल्ह के विद्वानों का है वही इस विचार में मानलिया जायगा।

इस विषय में सब से प्राचीन मत हमें जैमिनि का मिलता है। जैमिनि ने कहा है कि (मीमांसासूत्र १।१।२) धर्म के विषय में वैदिक विधि ही एक मात्र प्रमाण है। यद्यपि स्मृति और सदाचार से भी धर्म का ज्ञान हो सकता है यह उन्हें स्वीकार था पर उनका सिद्धान्त है कि ये प्रमाण वहीं तक माने जा सकते जहां तक साक्षात् वेद के विरुद्ध नहीं पाये जाते।

बौधायन (१।१।१-६) ने तीन प्रमाण माने हैं—वेद, स्मृति, और शिष्टागम अर्थात् शिष्टों का उपदेश। 'शिष्ट' वे हैं जो राग-द्वेष-अहंकार-लोभ-छद्म औद्धत्य लोलुपता क्रोध आदि दोषों से बचे हों और जिनने उचित रूप से सांगवेद को पढ़े हों और इन के तात्पर्य समझने में पटु हों। यहां 'आचार' के प्रामाण्य की चर्चा भी नहीं पाई जाती—उपदेश मात्र ही से धर्म का ज्ञान हो सकता है। सबसे प्रधान वेद का उपदेश—फिर स्मृतियों का उपदेश, फिर शिष्ट सज्जनों का उपदेश।

पराशर (१।२०) ने कहा है कि हर एक कल्प के आरम्भ में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और श्रुति-स्मृति सदाचार के प्रवर्तक अवतार लेते हैं—

कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
श्रुति-स्मृतिसदाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा।

आपस्तम्ब (१।१।२-३) कहते हैं 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' 'वेदाश्च' (आगे चलकर इस वाक्य का विवरण स्पष्ट होगा, अर्थात् धर्म के जानने वालों ने कुछ नियम किया है सो प्रमाण है, उस नियम से भी हमें धर्म का ज्ञान हो सकता है—और वेदों से भी। प्रथम वाक्य का आशय यही है कि जिस किसी कार्य के धार्मिक होने में सभी धर्मज्ञों का ऐकमत्य हो—अर्थात् जिसे सभी धर्मज्ञ विद्वान धार्मिक समझें—उसे धर्म 'कर्तव्य' समझना चाहिये।

इस बात को वसिष्ठ ने (१।४—६) स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं 'जब किसी विषय के प्रसंग श्रुति या स्मृति नहीं मिले ऐसी स्थिति में शिष्टों के आचार को प्रमाण मानना—'शिष्ट' वे पुरुष हैं जो निष्काम और स्वार्थरहित हैं।

गौतम (१।१।१—२) कहते हैं —'धर्म का प्रमाण वेद है—और वेद विद्वानों की स्मृति और शील भी'।

इन में शिष्टों के आचार प्रमाण माने जाने लगे—परंतु बड़े संकुचित रूप से—जिन विषयों में श्रुति स्मृति नहीं पाई जायं उन्हीं विषयों में।

इसकी अगली कक्षा हमें मनु स्मृति में मिलती है—(२।६)

> वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम।
> आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

फिर २।१२ में—

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

व्यास ने भी ऐसा ही कहा है—

> धर्ममूलं वेदमाहुर्ग्रन्थराशिमकृत्रिमम्।
> तद्विदां स्मृतिशीले च साध्वाचारं मनःप्रियम् ॥

इन वाक्यों में श्रुति—वेदविद्वान् की स्मृति और शील—सदाचार—स्वस्यप्रियम् (वा आत्मनस्तुष्टि) ये धर्म के प्रमाण हैं। इन शब्दों के क्या तात्पर्य हैं सो आगे विचार करेंगे।

इस से कुछ आगे की कक्षा याज्ञवल्क्य (१।७) में पाई जाती है।

> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारःस्वस्यच प्रियमात्मनः।
> सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

श्रुति—स्मृति—सदाचार—स्वस्यप्रियम् वा आत्मनस्तुष्टि—ये चारों मनु याज्ञवल्क्य दोनों में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त मनु में एक 'शील' है जो याज्ञवल्क्य में नहीं है और याज्ञवल्क्य में 'सम्यक्सङ्कल्पज-काम' है जो मनु में नहीं है। याज्ञवल्क्यस्मृतिटीका वीरमित्रोदय में इन दोनों को एक बतलाया है।

'श्रुति'—'स्मृति'—'सदाचार'-'शील' तथा 'सम्यक्सङ्कल्पजकाम'-आत्मनस्तुष्टि' तथा 'स्वस्य प्रियम्'—इन पदों का क्या तात्पर्य है सो विचार आवश्यक है।

श्रुति

ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व संहिता अपने अपने ब्राह्मणों के सहित 'वेद' कहलाते हैं। इसमें ऋग्वेद की २१ शाखाएं हैं, १०० यजुर्वेद के, १००० सामवेद के और ६ अथर्ववेद के। अथर्ववेद को कुछ लोगों ने वेद नहीं माना है। पर सो ठीक नहीं—क्योंकि इसमें वेद के सब लक्षण पाये जाते हैं। कहीं कहीं अथर्ववेद के मन्त्रों के पाठ का निषेध किया है। पर इस निषेध का तात्पर्य इतनाही है कि जहां और तीनों वेदों के अनुसार कर्मानुष्ठान होरहा हो तहां अथर्ववेद मन्त्रों का उच्चारण नहीं करना। वेद धर्म का मूल—कारण—है। अर्थात् धर्म का ज्ञान उत्पन्न करता है। यह धर्मज्ञान उन ब्राह्मणवाक्यों के द्वारा होता है जिनमें विधि पाये जाते हैं; कभी कभी मन्त्र वाक्यों द्वारा भी। इनके अतिरिक्त जो अर्थवाद वाक्य हैं उनका उपयोग विधिवाक्य विहित कर्मों की प्रशंसा करने में है, और मन्त्र तथा नामधेय से कर्म के अंगों और गुणों का ज्ञान होता है। (मनु-मेधातिथि२।६)

मनुस्मृति वाक्य में 'वेद' के साथ जो 'अखिल' विशेषण लगाया है उसका तात्पर्य यह है कि केवल वैदिक विधिवाक्य नहीं अर्थवादवाक्य भी —प्रमाण हैं। (सर्वज्ञनारायण मनु-२।६)

'वेद' पद ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व, चारों के लिये आया है। यह वेद 'अखिल' —अर्थात् विधिवाक्य मन्त्र अर्थवाद समेत —प्रमाण है—अर्थवादवाक्य विहितप्ररोचना द्वारा। मन्त्रों का यह भी प्रयोजन है कि वे कर्म के देवतादिगुणों को सूचित करते हैं। (कुल्लूक मनु-२।६)

ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व, चारों धर्म में प्रमाण हैं (राघवानन्द मनु—२।६)

'श्रुति' पद से केवल मन्त्र-ब्राह्मणवाक्य नहीं विवक्षित है-किन्तु चौदहो विद्या-अर्थात् ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। (विश्वरूप—याज्ञ. १।३-७)

'श्रुति' से वेद विवक्षित है (मिताक्षरा-याज्ञ. १।७)

'श्रुति' कहते हैं वेद को। अग्निहोत्रादि कर्मकलाप के स्वरूप को जानने का एक मात्र उपाय वेद ही है। व्यास ने कहा है यही एक परिशुद्ध प्रमाण है—अर्थात् पूर्णरूपेण विश्वसनीय-और जितने प्रमाण हैं उनका प्रामाण्य शुद्ध नहीं है-अर्थात् मिश्रित हैं-पूरा पूरा विश्वास योग्य नहीं हैं। जो उपदेश वेद में पायेजाते हैं वे ऊंचे दरजे के हैं-पुराणादि में जो मिलते हैं सो नीचे दरजे के। मनु ने कहा है-

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। (२, ७, ८, १०)

(अपरार्क-याज्ञ. १।७)

'श्रुति' वेद है। अग्निहोत्रादि कर्मकलाप के जानने का यही एक मात्र उपाय है। (वीरमित्रोदय—याज्ञ. १।७)

'श्रुति' वेद है। आपस्तम्ब के लक्षण के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों के संग्रह का ही नाम 'वेद' है। वेद 'अखिल'-सम्पूर्ण-प्रमाण है-अर्थात् साक्षात् श्रुतिवाक्य और वे भी जिनकी सूचना लिङ्गवाक्य-प्रकरण स्थान-समाख्य द्वारा होती है, और ऐसे वाक्य भी जिनका निर्धारितनियमों के अनुसार ऊह होता है। 'अखिल' विशेषण का एक फल यह भी है कि अथर्ववेद भी सङ्गृहीत हो जाता है, न केवल 'त्रयी' जैसा कि आपस्तम्ब के वचन में कहा है। यद्यपि अग्निहोत्रादि कर्म के अंगभूत अग्न्याधान इत्यादि के प्रसंग उपदेश अथर्ववेद में नहीं पाये जाते तथापि इसे हम अप्रमाण नहीं कह सकते-विशेषतः जब हम देखते हैं कि बहुत से विषय धर्मसम्बन्धी ऐसे हैं जिन का ज्ञान अथर्ववेद के द्वारा हो सकता है-जैसे तुलापुरुष इत्यादि-जोकि सब वर्गों के लिये उपयोगी है।

जब हम कहते कि धर्म का ज्ञान वेद से होता है तो इसी से यह भी सूचित होता है कि अधर्म का भी ज्ञान वेद ही से होता है। अधर्म का भी ज्ञान आवश्यक है। जब हम अधर्म को समझ कर उसका परित्याग करते हैं तभी हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो कर धर्म के जानने योग्य होता है।

'श्रुति वाक्य छः प्रकार के होते हैं—(१) विधि–जैसे वायव्यं श्वेत-मालभेत (वायु देवता को उत्कृष्ट छाग का बलि देवे) (अथवा गंगा स्नान करो)। क्या करना सो इस से साक्षात् साफ मालूम हो जाता है। (२) निषेध–' मा दिवा सुषुप्थाः ' (दिन में मत सोओ)। क्या नहीं करना सो इससे साफ मालूम होता है। (३) अर्थवाद। ये दो तरह के होते हैं—प्रशंसक तथा निन्दक। प्रशंसक वाक्य विधिवाक्य विहित कर्म की प्रशंसा करके उसके करने की तरफ लोगों को आकृष्ट करता है–जैसे 'गंगाजी की धारा पाप काटने का आरा' इस वाक्य के द्वारा विहित कर्म की प्रशंसा होती है जिसका तात्पर्य यह होता है कि 'गंगा स्नान करने से पाप दूर होगा।' ऐसे वाक्य विहित कर्म करने की ओर हमें खींचते हैं। निन्दक वाक्य निषेधवाक्य द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म की निन्दा कर लोगों के चित्त को उससे हटाता है। जैसे 'रुद्र देवता के रोने में जो आंसू गिरी उसीसे चान्दी उत्पन्न हुआ', इसका तात्पर्य है कि इस लिये 'दक्षिणा में रजत (चांदी) नहीं देना।' कहीं कहीं अर्थवाद से कर्तव्यविषयक सन्देह वा निर्णय भी हो जाता है। जैसे (अक्ताः शर्करा उपदधाति) वेदी के नीचे भींगे हुए कंकड़ डालो-ऐसी विधि है–पर किस द्रव्य से कंकड़ भिंगाया जाय सो उस वाक्य में नहीं कहा। पर आगे चल कर एक अर्थवादवाक्य मिलता है 'आयुर्वै घृतम्' ('घृत आयु है')। घृत की इस प्रशंसा से यह सूचित होता है कि घृत ही वह द्रव्य है जिससे कंकड़ भिंगाए जायं। (४) मन्त्रवाक्य इनके द्वारा कर्माङ्गों का ज्ञान होता है। [जैसे 'केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो-मर्या अपेशसे समुषद्भिरजायथाः' इस मन्त्र में 'केतु' पद के देखने से हमें यह सूचित होता है कि केतु देवता की पूजा में इस मन्त्र का प्रयोग होता है।] (५) नामधेय। यज्ञों के नामविशेष से उनके सांग स्वरूप का ज्ञान होता है। (६) उपनिषद् वाक्य। इनसे परमात्मा का ज्ञान होता है

जिससे सब अनर्थों का नाश हो जाता है। (वीरमित्रोदय—परिभाषा पृ–८–१०)।

पराशर (१।२०) ने कहा है—

कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
श्रुतिस्मृतिसदाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा ॥

इसके अक्षरार्थ से तो यह अर्थ निकलता है कि 'ब्रह्मा' विष्णु और महेश्वर ही श्रुत्यादिप्रवर्तक हुए' पर माधवाचार्य (पृ० ६८) ने 'श्रुतिस्मृतिसदाचारनिर्णेतारः' पदको 'ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः' पद का विशेषण नहीं माना है। उन्हों ने 'श्रुतिप्रवर्तक' पद का एक नया अर्थ किया है जिस से इस प्रमाण का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार श्रुतिप्रवर्तक हैं—(१) व्यास–जिन्हों ने वेदों का विभाग किया—(२) शाखाओं के प्रवर्तक, कठ कुथुम इत्यादि–(३) कल्प सूत्रकार, जैसे बोधायन, आश्वलायन, आपस्तम्ब इत्यादि—तथा (४) मीमांसासूत्रकार जैमिनि।

धर्म के लिये वेद ही मुख्य प्रमाण है। वेदों में जो कुछ ऊपर ऊपर विरुद्ध या असमञ्जस देख पड़ता है निपुणतर विचार करने पर सब ठीक हो जाता है। यह प्रामाण्य न केवल विधिवाक्यों ही का है, मन्त्र अर्थवाद तथा नामधेय का भी। (नृसिंहप्रसाद–संस्कार)

वेद सर्वथा प्रमाण है, क्योंकि वह मनुष्यरचित नहीं है। (स्मृति चन्द्रिका पृ०–३)

—*—

स्मृति

मेधातिथि-मनु २।६

'स्मृति' है स्मरण और 'शील' रागद्वेषादि का न होना, अर्थात् चित्त की शान्तावस्था। मनु के 'स्मृतिशील' पद से यह विवक्षित है कि 'स्मरण' वही धर्म का प्रमाण है जो चित्त की शान्तावस्था में हो' जिस समय चित्त शान्त हो–रागद्वेषादि दोष से कलुषित न हो वैसे ही समय का जो स्मरण है सो ही प्रमाण है। सारांश यह निकला कि जिन स्मृति

ग्रंथों में किञ्चित् भी रागद्वेषादि का लेश पाया जाय वह स्मृति प्रमाण नहीं मानी जा सकती। ऊंचे से ऊंचे दर्जे के ऋषि क्यों न हों—प्राचीन से प्राचीन क्यों न हों–यदि यह बात स्पष्ट हो कि उनका ग्रन्थ चित्त की शान्तावस्था में नहीं लिखा गया तो उस ग्रन्थ को प्रामाणिक स्मृति नहीं मानेंगे। एक विशेषण तो प्रामाणिक स्मृति का यह हुआ। दूसरा विशेषण है 'तद्विदाम्'। जो ऋषि वेदवित् हों, सांगवेद को भली भांति जानते हों उन्हीं की रची हुई स्मृति प्रमाण है। तीसरा विशेषण 'साधूनाम्' है। प्रामाणिक स्मृति के रचयिता वेही हो सकते हैं जो केवल वेद के विद्वान् ही न हों किन्तु वेदविहित धर्म का अनुष्ठान भी करते हों–अर्थात् केवल 'परोपदेशे पंडित' न हों किन्तु स्वयं भी अपने आचरण में उन उपदेशों का अनुसरण करते हों। सारांश यह है कि जब किसी पण्डित के प्रसंग में लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि इनका स्वभाव रागद्वेषादिरहित शान्त है–वेदवेदांग में पण्डित हैं–वैदिक धर्म के अनुष्ठाता हैं–और इन्होंने अमुक ग्रन्थ की रचना की है–तो ऐसे उपदेश को लोग धर्म में प्रमाण अवश्य मानेंगे। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि ग्रन्थकर्त्ता प्राचीन ही हो। आजकल्ह भी यदि उक्त विशेषणों से सम्पन्न कोई उपदेशक हो तो उसके भी धर्मविषयेक उपदेश आगे चल कर प्रमाण माने जायंगे और यह भी 'स्मृति' में अन्तर्गत होगा। और मन्वादि 'स्मृति' ही के दर्जे का होगा वैसाही श्रद्धेय और विश्वसनीय होगा। यही कारण है कि मेधातिथि ने अपने ग्रन्थ में स्मृति ग्रन्थों का परिगणन करके उनकी संख्या नियमित नहीं करदी हैं। इन्होंने स्पष्ट कह दिया है—"अद्यत्वेऽपि यस्यैतद्धेतुभावः सोऽपि मन्वादिवद् ग्राह्यवाक्यः स्यात्—अतएव स्मर्तृपरिगणना मनुर्विष्णुर्यमोऽङ्गिरा इति निर्मूला।" (घारपुरे संस्कृत मेधातिथि पृ. ६४, पं २१-२५)। पर मेधातिथि का कहना है जीवित समय के ग्रन्थकारों की मान ऐसी नहीं होती। क्योंकि अपने समकालीनो के प्रति ऐसी श्रद्धा प्रायः असम्भव सी है।

यह बात स्मरण रखने योग्य है कि मेधातिथि ने 'शील' को पृथक् प्रमाण नहीं माना है। 'शील' पद को उन्होंने स्मृतिपद का विशेषण माना।

गोविन्दराज-मनु २।६

स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलकता पर निर्भर है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विषयक मन्त्रादि के उपदेश को स्मृति कहते हैं।

सर्वज्ञनारायण—मनु २।६

जब किसी विषय में वेदवाक्य नहीं मिलता तो धर्म्म क्या है—इस विषय में ऐसे लोगों की स्मृति प्रमाण मान जाती है जो वेद जानने वाले हैं। 'स्मृति' पद से ऐसे पण्डितों के विचार और उन विचारों का ग्रन्थरूप से निबन्धन विवक्षित है।

कुल्लूक—मनु २।६

वेद जाननेवालों ही की स्मृति प्रमाण है। इसका तात्पर्य यह है कि स्मृति श्रद्धेय इसी कारण से है कि उसका मूल वेद है।

राघवानन्द–मनु २।६

स्मृतिपद से मन्वादिरचित ग्रन्थ विवक्षित हैं। और धर्म प्रमाण प्रसंग में केवल ऐसी ही स्मृति विवक्षित है जो वेद के विरुद्ध नहीं हैं। जो कोई स्मृति वेद के विरुद्ध पाई जाय तो वह त्याज्य ही होगी। पर जहां ऐसा कोई विरोध नहीं पाया जाय तहां यह अनुमान हम करलेंगे कि इनका मूल वेद में है। इसी वेदमूलकता पर स्मृतियों का प्रामाण्य निर्भर है।

नन्दन–मनु २।६

वेद जाननेवालों के ग्रन्थ को स्मृति कहते हैं। इसमें स्मृति–पुराण–इतिहास अन्तर्गत हैं।

विश्वरूप–याज्ञ १।७

'स्मृति' 'धर्मशास्त्र' ये दोनो समानार्थक शब्द हैं। स्मृतियों के विषय में यह शंका उपस्थित होती है—"यह कैसे मानलिया जाय कि स्मृतियों में जितने उपदेश हैं सबका मूल वेद में है? सबके मूल वेद में हमें नहीं

मिलते। कई उपदेशों के मूल वेद में मिलते हैं—पर सो तो बहुतेरे नास्तिकग्रन्थस्थ उपदेशों के भी पाये जाते हैं—तो क्या हम नास्तिक ग्रन्थों को भी 'स्मृति' मान कर धर्म में प्रमाण मान सकते हैं?" —इसका सीधा सा उत्तर यह है कि जब मन्वादि ने अपनी स्मृतियों में स्पष्ट कहा है कि उनकी स्मृतियों का मूल वेद है तो बिना किसी कारण के इस बात पर अविश्वास नहीं कर सकते। ऐसे सच्चरित्र और विद्वान् हो कर वे ऐसी बात झूठ नहीं लिख सकते थे। तत्वतः हम देखते भी हैं कि प्रायः उनके सभी उपदेश वेद के आधार पर ही हैं–कहीं कहीं साक्षात् कहीं कहीं परम्परया।

अपरार्क—याज्ञ १।७

'स्मृति' उन धर्म विषयक उपदेशों का नाम है जिनका मूल वेद में है। स्मृति का प्रामाण्य मिश्रित है–वैसा परिशुद्ध नहीं जैसा श्रुति का। स्मृतियों में सभी जाति और चारों आश्रमों के नियम पाये जाते हैं। ये वेद विद्वानों के उपदेश हैं–इनमें जो विहित है सो हमें करना चाहिये—जो निषिद्ध है सो छोड़ना चाहिये। हम को साक्षात् वेदवाक्यों के तात्पर्य को समझ कर उन्हीं के सहारे विधि निषेध समझने में धोखे की शंका बनी रहती है। पर ऐसे धोखे की सम्भावना स्मृतिकारों को नहीं हो सकती–उनका वेद का ज्ञान ऐसा पक्का है।

मिताक्षरा–याज्ञ. १।७

'स्मृति' धर्मशास्त्र का नाम है।

वीरमित्रोदय–याज्ञ. १।७

'स्मृति' धर्मशास्त्र का नाम है। अष्टकादिविषय में स्मृति ही एक मात्र प्रमाण है।

वीरमित्रोदय—परिभाषा प्रकाश पृ.८–२५

'वेद विद्वानों की स्मृति'। 'वेद विद्वानों की' इस विशेषण का यह आशय है कि स्मृतियों का जो धर्म के विषय में प्रामाण्य है सो उनके वेदमूलक होने ही पर निर्भर है–उनका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध नहीं है। याज्ञवल्क्यादि निर्मित धर्मशास्त्रों ही को 'स्मृति' कहते हैं।

मदनपारिजात पृ. ११

धर्मशास्त्रप्रवर्तकों में सब से प्रधान मनु हैं। और लोगों के नाम याज्ञवल्क्य ने गिनाये हैं। यद्यपि इन सब स्मृतिकारों का मत सब विषयों में एकसा नहीं है तथापि प्रधान विषयों में प्रायः ऐकमत्य पाया जाता है; मतभेद केवल गौण विषयों में कहीं कहीं पाए जाते हैं।

नृसिंहप्रसाद-संस्कार

"मन्वादि स्मृतिकार मनुष्य थे-मनुष्यों में जितने दोष होते हैं सभों की सम्भावना इन में है। फिर इनके वचन धर्म के विषय में वेद के सदृश प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं-जब कि वेद के अपौरुषेय होने के कारण उसमें पुरुषदोषों की और तज्जन्य अविश्वसनीयता की सम्भावना नहीं हो सकती ?"। -इस शंका का समाधान यह है कि जब हम देखते हैं कि वेद में जो उपदेश हैं उन्हीं के अनुवाद प्रायः स्मृतियों में हैं-फिर हम स्मृतियों को अवश्य-प्रमाण मानेंगे। 'स्मृति' इस नामही से यह सूचित होता है कि इन ग्रन्थों में उन्हीं विषयों का उल्लेख है जिनको उनके रचयिताओं ने अन्य प्रमाण के द्वारा जाना है (और धर्म के विषय में ऐसा अन्य प्रमाण वेद ही हो सकता है)। फिर हम यह भी जानते हैं कि मन्वादि स्मृतिकार वेद के पूरे विद्वान् थे। ऐसी अवस्था में जब उन्होंने धर्मविषयक ग्रन्थ लिखा होगा उस समय-धर्म का एकमात्र प्रमाण वेद है इस बात को जानते हुए-उन्होंने वेद के विरुद्ध या वेद के अतिरिक्त कोई बात नहीं लिखी होंगी। यह सत्य है कि स्मृतियों में जितने उपदेश हैं वे सब अक्षरशः वेद में हमें नहीं मिलते। पर अधिकांश स्मृतियों के अंश ऐसेही हैं जिनका मूल वेद में मिलता है। इसी से हम और अंशों के विषय में भी अनुमान कर सकते हैं कि उनका भी मूल वेद में अवश्य होगा—सम्भव है जो शाखाएं अब लुप्त हो गई हैं उनमें इनका मूल हो। कम से कम एक स्मृतिकार की प्रामाणिकता तो साक्षात् वेद ने उद्घोषित की है-'यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजम्'।

स्मृतिचन्द्रिका पृ.१

मन्वादिप्रणीत स्मृतिया वेदमूलक होने के कारण धर्म के विषय में हमारे लिये एकमात्र प्रमाण हैं । ये वेदमूलक हैं सो इसी से सूचित होता है कि जो कुछ वेद में है उसी का उपपादन इनमें पाया जाता है । पर यह बात स्मृति के उन्हीं अंशों के विषय में सत्य है जो धर्म अदृष्ट या पारलौकिक विषय से सम्बन्ध रखते हैं । जो अंश दृष्ट या लौकिक विषय से सम्बन्ध रखते हैं उनके विषय में स्मृतियों का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है । पुराण में कहा है कि 'सब स्मृतियों का मूल वेद में है—केवल वे अंश नहीं जो दृष्ट विषय से सम्बन्ध रखते हैं । यहां पर यह प्रश्न उठता है—"यदि वेद मे जो कहा है सो ही स्मृतियों में भी कहा है—तब हमारा सब काम वेद ही से निकलता—स्मृतियों का क्या प्रयोजन ?"—इसके उत्तर में मरीचि का वाक्य है—'वेदवाक्यों को समझना कठिन है—और ये कई जगहों में इधर उधर छितराये हुए हैं—ये सब वाक्य स्मृतियों में यथाक्रम संगृहीत किये हैं और उनका तात्पर्य भी वर्णन किया गया है ।' 'स्मृति' में पुराण भी अन्तर्गत हैं । विष्णु ने भी अपनी स्मृति मे पुराणों को मनुस्मृति ही की श्रेणी में रक्खा है । इसी तरह गृह्यसूत्रकारों का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है । देवल ने कहा है—'मन्वादि स्मृतिकारों ने धर्मोपदेश किया है और गृह्यसूत्रकारों ने उन उपदेशों को कार्य में परिणत करने का विधान बतलाया है ।'

संस्कारमयूख पृ. २

आयुर्वेद, ज्योतिष संहिता वराहमिहिरादिप्रणीत, और पुराण—ये सब 'स्मृति' हैं ।

धर्मशास्त्र स्मृतियों की नामावली में मतभेद है। याज्ञवल्क्य ने २० गिनाये हैं—

१ मनु	११ कात्यायन
२ अत्रि	१२ बृहस्पति
३ विष्णु	१३ पराशर
४ हारीत	१४ व्यास
५ याज्ञवल्क्य	१५ शङ्ख
६ उशनस्	१६ लिखित
७ अङ्गिरस्	१७ दक्ष
८ यम	१८ गैातम
९ आपस्तम्ब	१९ शातातप
१० संवर्त	२० वसिष्ठ

पैठीनसि ने ३६ गिनाये हैं—

१ मनु	७ यम	१३ विष्णु	१९ प्रचेतस	२५ कश्यप	३१ गार्ग्य
२ अङ्गिरस	८ बसिष्ठ	१४ आपस्तम्ब	२० नारद	२१ बभ्रु	३२ कार्ष्णाजिनि
३ व्यास	९ दक्ष	१५ हारीत	२१ याज्ञवल्क्य	२७ पैठीनसि	३३ जाबालि
४ गौतम	१० संवर्त	१६ शङ्ख	२२ बौधायन	२८ व्याघ्र	३४ जमदग्नि
५ अत्रि	११ शातातप	१७ कात्यायन	२३ पितामह	२९ सत्यव्रत	३५ लौगाक्षि
६ उशनस्	१२ पराशर	१८ भृगु	२४ सुमन्तु	३० भरद्वाज	३६ ब्रह्मसम्भव

पराशरस्मृति (आचार १२-१५) में ये १९ नाम हैं जो व्यास ने अपने पुत्र को बताया—

१ मनु	११ अङ्गिरस्
२ वसिष्ठ	१२ शातातप
३ कश्यप	१३ हारीत
४ गर्ग	१४ याज्ञवल्क्य
५ गौतम	१५ आपस्तम्ब
६ उशनस्	१६ शङ्ख
७ अत्रि	१७ लिखित
८ विष्णु	१८ कात्यायन
९ संवर्त	१९ प्रचेतस्
१० दक्ष	

इसकी टीका में माधवाचार्य ने ये नाम और गिनाये हैं

१ व्यास	१० पैठीनसि
२ यम	११ व्याघ्र
३ पराशर	१२ सत्यव्रत
४ भृगु	१३ भरद्वाज
५ नारद	१४ कार्ष्णाजिनि
६ बोधायन	१५ जाबालि
७ पितामह	१६ जमदग्नि
८ सुमन्तु	१७ लौकाक्षि
६ बभ्रु	

स्मृतिचन्द्रिका में महाभारत के आधार पर इन ३५ स्मृतिकारों के नाम लिखे हैं—

१ उमामहेश्वर	१३ बृहस्पति	२५ शाण्डिल्य
२ नन्दी	१४ कुणि	२६ सोलभ्यायन
३ ब्रह्मा	१५ कुणिबाहु	२७ बालखिल्य
४ कुमार	१६ विश्वामित्र	२८ सप्तर्षि
५ धूम्रायण	१७ सुमन्तु	२६ व्याघ्र
६ कण्व	१८ जैमिनि	३० व्यास
७ वैश्वानर	१६ शकुनि	३१ विभाण्डक
८ भृगु	२० पुलस्त्य	३२ विदुर
६ याज्ञवल्क्य	२१ पुलह	३३ भृगु
१० मार्कण्डेय	२२ पावक	३४ अङ्गिरस
११ कुशिक	२३ अगस्त्य	३५ वैशम्पायन
१२ भरद्वाज	२४ मुद्गल	

स्मृतिचन्द्रिका ही में शङ्ख के बताये २० नाम यें हैं—

१ मनु	६ बृहस्पति	११ आत्रेय	१६ पराशर
२ यम	७ उशनस्	१२ हारीत	१७ व्यास
३ दक्ष	८ आपस्तम्ब	१३ कात्यायन	१८ शातातप
४ विष्णु	६ गौतम	१४ शङ्ख	१६ प्रचेतस्
५ अङ्गिरस्	१० संवर्त	१५ लिखित	२० याज्ञवल्क्य

अङ्गिरस ने निम्नलिखित १३ 'उपस्मृति' के नाम बतलाये हैं—

१ लोगाक्षि	८ कात्यायन
२ कश्यप	९ जातूकर्ण
३ व्यास	१० कपिञ्जल
४ सनत्कुमार	११ बोधायन
५ शान्तनु	१२ कणाद
६ जनक	१३ विश्वामित्र
७ व्याघ्र	

इतिहास दो है—रामायण, महाभारत ।

पुराण का लक्षण यह है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराण उस ग्रन्थ को कहते हैं जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर, राजवंशों के चरित—ये पांचो वर्णित हों ।

ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि आदि में जैसे एक वेद था वैसे ही पुराण भी एक ही था, व्यास ने वेदों के चार भाग कर के चार शिष्यों को पढ़ाया और एक पुराण रचा जिसमें ४००० श्लोक थे—इसे उन्होंने अपने शिष्य सूत-लोमहर्षण को पढ़ाया । लोमहर्षण ने इस पुराण को छः शिष्यों को पढ़ाया । इनमें से तीन ने—अकृतव्रणकश्यप, सोमदत्त-सावर्णि, सुशर्मा-शांशपायन—तीन पुराण लिखे ॥ इन सभोंमें चार भाग हैं—आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्प । पर आगे चल कर इन पुराणों की संख्या बहुत बढ गई । यहां तक कि सिद्धान्त यह हुआ कि १८ पुराण हैं, १८ उपपुराण और १८ उपोपपुराण । कौन से पुराण किस श्रेणी में रक्खे जांय इसके प्रसंग मतभेद है । पर सामान्यतः विभाग इस प्रकार किया गया है—

(भागवत तथा विष्णुपुराणोक्त)

१८ पुराण

१ ब्रह्म—१०००० श्लोक

२ पद्म—५५०००

३ विष्णु—२३०००

४ शिव—२४०००

५ भागवत—१८०००

६ नारद—२५०००

७ मार्कंडेय—९०००

८ अग्नि—१५४००

९ भविष्य—१४५००

१० ब्रह्मवैवर्त—१८०००

११ लिङ्ग—११०००

१२ बराह—२४०००

१३ स्कन्द—८११००

१४ बामन—१००००

१५ कूर्म—१७०००

१६ मत्स्य—१४०००

१७ गरुड़—१९०००

१८ ब्रह्माण्ड—१२०००

ब्रह्मवैवर्त में 'ब्रह्माण्ड' के स्थान में 'वायु' है।

१८ उपपुराण (कूर्मपुराणोक्त)

४ सनत्कुमार

२ नरसिंह

३ नान्द (कुमारकथित)

४ शिवधर्म (नन्दीश्वरकथित)

५ नारदीय

६ दुर्वासस्

७ कपिल

८ मानव

९ औशनस

१० ब्रह्माण्ड

११ वरुण

१२ कालिका

१३ माहेश्वर

१४ शाम्ब

१५ सैार

१६ पराशर

१७ मारीच

१८ भार्गव

ब्रह्मवैवर्त में 'नान्द' की जगह 'वासिष्ठलैङ्ग' है।

उपोपपुराणों के नाम इतने अब तक ज्ञात हैं।

१ शिवरहस्य

२ विष्णुरहस्य

३ बृहन्नारदीय

४ वायु (२४०००)

५ भार्गव

६ नन्दी

७ वसिष्ठ

८ गणेश

९ हंस

१० मुद्गल

११ रेणुक

१२ विष्णुधर्मोत्तर

१३ अम्बिका	२१ बृहद्धर्म
१४ मरीचि	२२ वासव
१५ लघुनारद	२३ नन्दिकेश्वर
१६ पाशुपत	२४ सूर्य
१७ कल्कि	२५ मानव
१८ आदित्य	२६ कङ्काल
१९ कलि	२७ गद
२० आदि	२८ बृहस्पति

वीरमित्रोदय–परिभाषाप्रकाश पृ०–१०–२४

वेदज्ञान में कुछ और शास्त्रों का ज्ञान अपेक्षित है–जिनके बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म ज्ञान के लिये जिन १४ शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है वे यों हैं–-(१-४) चारो वेद (५) पुराण (६) न्याय, (७) मीमांसा, (८) धर्मशास्त्र, (९) शिक्षा (१०) कल्प (११) व्याकरण (१२) निरुक्त (१३) छन्द (१४) ज्यौतिष् (याज्ञवल्क्य १।३)। यहां 'न्याय' पद से गैातमीय न्यायदर्शन विवक्षित है—'मीमांसा' पद से जैमिनीय पूर्वमीमांसा तथा बादरायणीय उत्तरमीमांसा दोनों विवक्षित हैं—'धर्मशास्त्र' पद से मन्वादिस्मृति।

स्मृतिचन्द्रिका पृ०–५

पुराण–न्याय–मीमांसा-धर्मशास्त्र-चारो वेद-छत्रो वेदाङ्ग—ये सब धर्म-ज्ञान के–और उस ज्ञान के द्वारा धर्म के भी—उपाय हैं।

सदाचार

मेधातिथि—मनु २।६

जो 'सदाचार' धर्म में प्रमाण माना गया है सो उन्हीं सज्जनां का आचार है जो वेद के विद्वान् हैं। मनु के वाक्य में 'तद्विदां' पद का अन्वय 'साधूनां' के साथ भी है। 'सज्जनता' (साधुता) और 'वेदज्ञान' ये ही दो 'शिष्टता' के लक्षण हैं। जब किसी कर्म के प्रसंग कोई श्रुतिवाक्य या स्मृतिवाक्य नहीं मिलता पर हम देखते हैं कि शिष्ट लोग उस कर्म को

'धर्म' समझ कर करते हैं --तब हम उस कर्म को 'वेदविहित' उसी तरह मानते हैं जैसे स्मृत्युक्त धर्म को। ऐसे आचारों के प्रसङ्ग कोई सामान्य नियम हम नहीं बना सकते—प्रत्येक आचार के प्रसंग हमको पृथक् पृथक् विचार करना आवश्यक होगा। क्योंकि आचरण का औचित्य वा अनौचित्य देशविशेष, कालविशेष और अवस्थाविशेष के अनुसार होता है। जिसी आचरण को हम एक दशा में उचित समझेंगे उसीको दूसरी दशा में अनुचित कहेंगे। जैसे अतिथि के सत्कार में यदि कोई गृहस्थ अनवरत उसके पास सेवा करने के लिये बैठा रहे तो किसी अतिथि को तो ऐसी सेवापरायणता से बड़ा संतोष होगा पर दूसरे अतिथि को यह बड़ा अप्रिय होगा कि एक क्षण भी यह आदमी मुझे अकेला स्वस्थ नहीं रहने देता, हरदम खोपड़ी पर सवार रहता है, जरा भी सरके तो मैं सुचित्त हो कर सोऊं बैठूं। ऐसा अवस्थाभेदेन औचित्य अनौचित्य श्रुत्युक्त या स्मृत्युक्त धर्म में नहीं होता। यही भेद श्रुतिस्मृत्युक्त धर्मों से सदाचार सूचित धर्म का होता है।

सर्वज्ञनारायण—मनु २।६

जब किसी विषय में श्रुति या स्मृति या विद्वानों का शील हमें नहीं मिलता जिससे हम समझ सकें कि हमारा क्या कर्तव्य है—तो ऐसी अवस्था में सज्जनों के आचार ही का सहारा लेना पड़ता है। अर्थात् जो सज्जन वेद के अनुसार अपना आचरण रखते हैं उनके आचरण के दृष्टान्त ही को देख देख हमें अपने कर्तव्य का निर्णय करना चाहिए। 'आचार' से यहां आधुनिक सज्जनों के आचरण से तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य है प्राचीन लोगों के आचरण से—जिसका लिखित प्रमाण नहीं मिलता पर जनपरम्परा से ज्ञात है कि ऐसी अवस्था में सज्जन ऐसा ही करते आये हैं। इसी कारण से सदाचार के प्रामाण्य का दरजा लिखित पुराण स्मृत्यादि से नीचा माना गया है।

कुल्लूक मनु—२।६

'आचार' से यहां तात्पर्य है ऐसे आचरणों का जैसे कम्बल पहनना या बल्कल इत्यादि। 'साधु' कहते हैं सज्जन को, धार्मिक को।

गोविन्दराज तथा राघवानन्द मनु २।६

'आचार'–जैसे विवाह में हाथ में कंगन बांधना इत्यादि। 'साधु' अर्थात् जो लोग रागद्वेष से रहित हैं।

विश्वरूप–याज्ञ १।७

'आचार'–अर्थात् अदृष्टार्थ (पारलौकिक) जो कर्म किये जाते हैं। 'सज्जन' वे हैं जो स्वार्थरहित दम्भशून्य हैं। स्मृति से इसका भेद यही हैं कि स्मृतियां ग्रन्थरूप में उपनिवद्ध मिलती हैं—'सदाचार' कहीं ग्रन्थरूप में उपनिवद्ध नहीं मिलते (केवल जनपरम्परा से प्रसिद्ध हैं)। दूसरा भेद यह है कि 'आचार' की प्रामाणिकता में सन्देह बना रहता है स्मृति की प्रामाणिकता निश्चित है।

अपरार्क पृ० १६ याज्ञ. १।७

शिष्टों के व्यवहार को 'सदाचार' कहते हैं। 'शिष्ट' वे हैं जो द्वेष-अहंकार-लोभ-दम्भ-मोह-क्रोध इन दोषों से रहित हैं—जिनके पास खाने को भरपूर है—जिन्होंने सांगवेद नियमानुसार पढ़ा है—और उनके आशय समझने की योग्यता रखते हैं—ऐसा बौधायन का बचन है॥ 'साङ्गवेद के आशय समझने की योग्यता' उन्हींको हो सकती है जो स्मृतियों को अच्छी तरह जानते हैं। जिन ग्रन्थों में सदाचार को प्रमाण माना है वहां सभी आचारों से मतलब नहीं है—सभी सदाचार प्रमाण नहीं हो सकते—मतलब ऐसे ही आचारों से है जो ब्रह्मावर्त या और शिष्ट प्रदेशों में प्रचलित हैं जिनका मूल वेद में अवश्य है। कोई आचार जो साक्षात् श्रुतिवाक्य के विरुद्ध है वह सर्वथा हेय है। यद्यपि वशिष्ठ ने कहा है कि 'आर्यावर्त का आचरण प्रमाण है'—पर आगे चल कर उन्हींने यह भी कहा है कि—'शिष्टों के आचार का प्रामाण्य ऐसे ही विषयों में माना जा सकता है जिसमें श्रुति या स्मृति उपलब्ध नहीं है'।

मिताक्षरा याज्ञ. १।७

'सदाचार' शिष्टों का आचार—अशिष्टों का नहीं।

वीरमित्रोदयटीका—याज्ञ. १।७

'सदाचार' का लक्षण विष्णुपुराण में यों लिखा है— 'जो पुरुष सज्जन सर्वदोष रहित हैं उनके आचरण, व्यवहार, को सदाचार कहते हैं'। होली इत्यादि के अनुष्ठान में केवल आचार ही प्रमाण है।

वीरमित्रोदय—परिभाषाप्रकाश पृ० २६

गौतम ने कहा है कि देशाचार, जात्याचार, कुलाचार—ये तभी प्रमाण हो सकते हैं जब ये 'आम्नाय'—अर्थात् श्रुतिस्मृति पुराण—के विरुद्ध नहीं हैं। 'आचार' भावरूप धर्मों का नाम है—'शील' अभाव-रूप गुणों का। यदि सज्जनों का आचार प्रमाण है ऐसा सिद्धान्त माना जाय तब इसका यह आशय होगा कि यदि आचरण करनेवाले 'साधु' 'सज्जन' हैं—अर्थात् रागद्वेषादि दोष से शून्य हैं तो उनके 'आचार' प्रमाण हैं—यद्यपि ये वेद के विद्वान् न भी हों। इसी आशय से शूद्रों के लिए उनके पूर्वजों के आचार धर्म के लिए प्रमाण माने गये हैं।

पराशरमाधव पृ० १००

'सदाचार' का दृष्टान्त है होलाका। इनके नियम और अनुशासन करनेवाले जाति तथा कुल के मुखिया होते हैं।

मदनपारिजात पृ० ११-१२

आचार का ज्ञान इन देश के निवासियों से प्राप्त हो सकता है—(१) ब्रह्मावर्त—सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के बीच का देश। (२) मध्यदेश—हिमालय से दक्षिण, विन्ध्य से उत्तर, प्रयाग से पश्चिम गंगा यमुना के बीच का देश। (३) आर्यावर्त—हिमालय से दक्षिण, विन्ध्य से उत्तर, पूर्वसमुद्र के पश्चिम, पश्चिम समुद्र से पूरब का देश।

नृसिंहप्रसाद—संस्कार

जितने आचरण पाये जाते हैं सभी नहीं प्रमाण माने जा सकते। वेही आचरण धर्म के विषय में प्रमाण हो सकते हैं जिनको शिष्ट लोग धर्म समझ कर करते हैं। कोई सज्जन, यद्यपि वह कभी बुरा आचरण

करे भी उसे 'धर्म' समझ कर नहीं करेगा। और जिस काम को शिष्ट लोग धर्म समझ कर करेंगे उनका मूल प्रमाण वेद में उनको अवश्य मिला होगा। इसीसे जो सदाचार प्रमाण हैं उनका भी मूल वेद ही है—ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा।

स्मृतिचन्द्रिका पृ० ५६

विवाह में कंगन का बांधना 'सदाचार' का दृष्टान्त है। 'शिष्ट' का लक्षण मनु (१२।१०९) में यों लिखा है—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

अर्थात् 'जिन ब्राह्मणों ने नियमानुसार वेदाग पुराण-इतिहास सहित वेद पढ़ा है और जो अपनी चालचलन साक्षात् श्रुतियों ही के अनुसार रखते हैं वे ही शिष्ट समझे जा सकते हैं'। जिन विषय में हमें श्रुति या स्मृति के वाक्य नहीं मिलते—हमें शिष्ट ब्राह्मणों की 'परिषद्' के वाक्य के अनुसार चलना उचित है। जैसा मनु ने कहा है (१२।१०८)—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥

इस 'परिषद्' में कम से कम १० ब्राह्मण होने चाहिये। जैसा गौतम ने और बौधायन ने कहा है। पर याज्ञवल्क्य के अनुसार—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्, त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात्; एकोऽप्यध्यात्मवित्तमः। (१।९)

अर्थात् परिषद् में वेद और धर्मशास्त्र के जाननेवाले चार आदमी होंगे अथवा तीन आदमी जिनमें प्रत्येक तीन वेद जानते हों या एक ही आदमी जो आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हों।

मनु के अनुसार भी परिषद् के सदस्य १० (स्मृति १२।११०)—अथवा तीन वेदत्रय जाननेवाले होना चाहिए (स्मृति १२।११२)। इस परिषद् का सिद्धान्त वैसा ही प्रामाणिक है जैसा वेद (यम)।

मनु (४।१७८) ने 'कुलाचार' को प्रमाण मान है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

पर ऐसे आचारों का प्रामाण्य उन्हीं स्थलों में माना जा सकता है जहां शास्त्रों का स्पष्ट सिद्धान्त मतभेदों के कारण स्थिर नहीं हो सके। जैसा सुमन्तु ने कहा है -

यत्र शास्त्रगतिर्भिन्ना सर्वकर्मसु भारत ।
तस्मिन कुलक्रमायातमाचारं त्वाचरेद् बुधः ॥

संस्कारमयूख पृ० ७

सदाचार वही प्रमाण है जो श्रुति तथा स्मृति वाक्यों के विरुद्ध नहीं है।

शील (मनु) सम्यक्सङ्कल्पज-काम (याज्ञवल्क्य)

मेधातिथि—मनु. २।६

मेधातिथि ने 'शील' और स्मृति को विशेषणविशेष्यभाव से सम्बद्ध माना है जिससे अर्थ निकाला है कि 'शीलवान्' पुरुषों ही की 'स्मृति' प्रामाणिक है। इनके अनुसार 'शील' पृथक् प्रमाण नहीं है। मेधातिथि ने 'शील' पद का एक दूसरा अर्थ भी रक्खा है—जिसका तात्पर्य यह है कि शील पृथक् प्रमाण ही है—पर जो कुछ काम आदमी करे सब उसको शीलवान् हो कर अर्थात् रागद्वेषादिरहित हो कर करना चाहिए।

गोविन्दराज—मनु. २।६

रागद्वेषशून्यता ही को 'शील' कहते हैं।

सर्वज्ञनारायण—मनु. २।६

जहां हमें श्रुति या स्मृति उपलब्ध नहीं होती तहां कर्तव्य का निर्णय वेदविद्वानों के 'शील' से हो सकता है। अर्थात् जिस काम की ओर विद्वानों की अभिरुचि हो उसीको धर्म मानना चाहिये। जब हमें इस अभिरुचि का भी पता नहीं चले तब सदाचार के द्वारा धर्मनिर्णय करना होगा।

कुल्लूक—मनु. २।६

ब्राह्मणों मे भक्ति इत्यादि सद्गुणों को 'शील' कहा है।

राघवानन्द—मनु. २।६

'शील' है व्यवहार, कर्म ऐसे लोगों का जो वेद में वर्णित हैं। अथवा ब्राह्मणों मे भक्ति इत्यादि १३ गुणों को भी 'शील' कह सकते हैं।

नन्दन—मनु. २।६

'शील' आत्मा के उस उत्तम गुण का नाम है जिसके द्वारा पुरुष विद्वानों के बीच आदृत होता है। इस 'शील' का उदाहरण है युधिष्ठिर का व्यवहार—जबकि यक्ष ने उनके चारों भाइयों को पकड़ रक्खा था और उनमें से एक को छोड़ना उसने स्वीकार किया तो युधिष्ठिर ने नकुल ही को छोड़ने की प्रार्थना की, अपने सगे भाई भीम या अर्जुन को नहीं।

शील की जगह याज्ञवल्क्य (१।२) में 'सम्यक्सङ्कल्पजः कामः' पाया जाता है। इसका तात्पर्य अपरार्क में कहा है—उचित विचार के अनुसार कार्य करने की इच्छा—अर्थात् 'मैं शास्त्रों के अनुसार काम करही कर अपना उद्देश्य सिद्ध करूंगा' ऐसा दृढ़ संकल्प। विश्वरूप के अनुसार—कई वैकल्पिक मार्गों में से किसी एकका अनुसरण हम करेंगे—इसीमें यह प्रमाण हो सकता है।

वीरमित्रोदयटीका—याज्ञ. १।०

'सम्यक् सङ्कल्प' ऐसे ज्ञान को कहते हैं जो रागद्वेषादिरहित हो 'काम' है दृढ़ प्रतिज्ञा—ब्राह्मणादि का उपकार करने का। अथवा 'सम्यक्सङ्कल्पजकाम' पद से उन्हीं गुणों की समष्टि विवक्षित है जिसको महाभारत मे और मनुस्मृति में 'शील' पद से कहा है। ये गुण हैं—

अद्रोहः सर्वभूताना कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानंच शीलमेतद् विदुर्बुधाः॥

सब भूतों के प्रति अद्वेष, अनुग्रह और ज्ञान—इन्हीं गुणों को विद्वानो

ने 'शील' कहा है। यह धर्म में प्रमाण इस आशय से माना गया है कि जिस मनुष्य में ऐसे गुण हैं वही वेद के तात्पर्य को शुद्ध समझ सकता है। 'शील' में ये गुण अन्तर्गत हैं—ब्रह्मण्यता, देवभक्ति, पितृभक्ति, सौम्यता, दूसरोंको दुःख नहीं देना, डाह नहीं करना, कोमल स्वभाव, अक्रूरता, मित्रभाव, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरणागतों की रक्षा करना, शान्त स्वभाव। यह उन्हीं विषयों में प्रमाण माना गया है जिनमें वैदिक विधि नहीं मिलते। कुछ लोगों का मत है कि 'सम्यक्सङ्कल्पजकाम केवल ऐसे ही विषयों में प्रमाण है जैसे 'मैं भोजन के अतिरिक्त पानी नहीं पीऊंगा' इत्यादि।

दूसरी व्याख्या के अनुसार 'सम्यक्' पद 'सङ्कल्पजः कामः' पद से सम्बन्ध नहीं रखता; वह 'श्रुति' और 'स्मृति' पदों से अन्वित है। 'सम्यक् श्रुति' हैं अच्छी तरह समझे हुए वेदवाक्य—और 'सम्यक् स्मृति' है वेद मूलक स्मृति।

मिताक्षरा—याज्ञ. १।७

यहां ऐसी ही इच्छाओं से मतलब है जो शास्त्रों के विरुद्ध न हों, जैसे 'भोजन से अतिरिक्त मैं जल नहीं पीऊंगा'।

वीरमित्रोदय—परिभाषाप्रकाश पृ० ८–२५

खूब विचार कर के जो संकल्प किया जाता है उसीसे यहां तात्पर्य है। अथवा पुण्यात्माओं के मन में जो परोपकार आदि करने का संकल्प किया जाता है। जिसे मनु ने 'शील' पद से कहा है। जैसे ऊपर कह आये हैं 'शील' लोभ का अभाव इत्यादि अभाव रूप गुणों को कहते हैं।

स्मृतिचन्द्रिका पृ०–५

'शील' कहते हैं रागद्वेषादिराहित्य को।

आत्मनस्तुष्टिः (मनु) स्वस्य प्रियम् (याज्ञवल्क्य)

मेधातिथि—मनु. २।६

उन्हीं की 'आत्मनः तुष्टि' (मनस्संतोष) प्रमाण है जो सज्जन हैं और वेदविद्वान् हैं। तात्पर्य यह है कि किसी कर्म के प्रसंग सज्जन और विद्वान्

पुरुष के मन में यह जमजाय कि यह 'धर्म' है—तब उसको धर्म मानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मनुष्य को अधर्म के प्रसंग मनस्सन्तोष नहीं हो सकता। पर प्राचीन ग्रन्थकारों के मत में इसका तात्पर्य यह है कि जब कई वैकल्पिक धर्म किसी मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं तब किसका अनुष्ठान करें इसमें अनुष्ठाता का अपना ही मनस्सन्तोष प्रमाण हो सकता है। जब सभी मार्ग वैकल्पिक हैं–धार्मिकता सबों की बराबर है–तब आदमी मूर्ख भी है तो क्या हुआ–इनमें कौन से मार्ग का अनुसरण करूं इसमें उसका मन ही नियामक होगा -- इसमें कोई हानि नहीं हो सकती। एक तीसरी व्याख्या यह है कि कोई भी काम करें मनुष्य को चित्त स्वस्थ और शान्त रखना चाहिए।

सर्वज्ञनारायण-- मनु. २।६

जिस स्थल में कर्तव्य क्या है सो निश्चय करने का और कोई प्रमाण नहीं मिलता वहां अपने मनस्संतोष ही के अनुसार काम करना अर्थात् वही काम करें जिससे चित्त में शान्ति और परितोष होवे। इसका दरजा 'शील' और 'आचार' से भी कम है, क्योंकि यह एक ही आदमी के चित्त पर निर्भर रहता है।

कुल्लूक–मनु. २।६

कई विकल्प उपस्थित होने ही पर मनस्संतुष्टि प्रमाण होती है।

नन्दन–मनु. २।६

विशिष्ट धार्मिकों ही का मनस्सन्तोष प्रमाण हो सकता है।

गोविन्दराज—मनु. २।६

मनस्सन्तोष केवल ऐसे ही स्थलों में प्रमाण होता है जहां कार्य अदृष्ट-विषयक है और उसके प्रसंग कई एक वैकल्पिक मार्ग हैं।

विश्वरूप–याज्ञ. १।७

'आत्मपरितोष' यहां वही विवक्षित है जो वेदवाक्यों के विरुद्ध न हो और चित्तचाञ्चल्यप्रयुक्त न हो। जैसे किसी क्षोभ के कारण कष्ट में परिवार

को छोड़ कर संन्यासी हो जाना धार्मिक क्रिया नहीं कहा जाता—यद्यपि उसमें उस मनुष्य का मनः परितोष हो। 'स्वस्यच आत्मनः प्रियम्' इसका अर्थ 'अपने आत्मा का प्रिय'—अर्थात्—मोक्ष—भी हो सकता है।

मिताक्षरा—याज्ञ. १।७

वैकल्पिक मार्गों में से कौन सा काम में लाया जाय इसी विषय में मनःपरितोष प्रमाण है—जैसे उपनयन सातवें वर्ष करेंगे या आठवें में।

अपरार्क—याज्ञ. १।७

यह उन्हीं विषयों में प्रमाण हो सकता है जिसके प्रसंग इसका प्रामाण्य स्पष्ट शब्दों में कहा हो—जैसे 'यदि किसी काम के न करने से चित्त पर भार सा मालूम हो तो उस काम को अवश्य करना'।

वीरमित्रोदयटीका—याज्ञ. १।७

'स्वस्य प्रियम्' का अर्थ है अपना सन्तोष—अर्थात् 'यह कार्य उचित है' ऐसा दृढ़ विश्वास—पर ऐसे आदमियों का जो वैदिक शास्त्र में निष्णात है। कुमारिल ने ऐसा ही कहा है। यह 'मनः परितोष' कार्यकर्त्ता का अपना ही होना चाहिये—कोई आदमी सन्देह होने पर संसार भर के वैदिक पंडितों से पूछता नहीं फिर सकता कि 'इसमें आपका मनःपरितोष होता है या नहीं'। किसी पाप का प्रायश्चित्त दोबारा किया जाय अथवा एक ही बार कर के छोड़ दिया जाय—इसका नियामक भी अपना मनःपरितोष ही हो सकता है।

वीरमित्रोदय-परिभाषाप्रकाश पृ० ८—२५

परितोष भी साधु पुरुषों ही का विवक्षित है। तात्पर्य यह कि जब कभी सन्देह उपस्थित हो कि क्या उचित है—तब उसीको उचित समझना जिसमें वैदिक पंडितों का चित्त परितुष्ट हो। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है-'कर्तव्य विषय में जब संशय हो तब ऐसा करना जैसा निष्पक्षपात विवेकशील विश्वसनीय धार्मिक ब्राह्मण करें'। इससे परिषद् का भी प्रामाण्य सूचित होता है। प्रति व्यक्ति के लिये ही उसका मनःपरितोष प्रमाण हो सकता है। एकका परितोष दूसरेके लिये प्रमाण या निर्णायक

नहीं हो सकता। उपयोग भी इस प्रमाण का कई वैकल्पिक मार्गों में से एकको चुनने ही में है।

नृसिंहप्रसाद—संस्कार

केवल मनःपरितोष प्रमाण नहीं हो सकता। तात्पर्य इतना ही है कि जब किसी कार्य के प्रसंग किसी शिष्ट विद्वान के मन में यह निश्चय संतोष हो जाय कि यह धर्म है—तो इस परितोष को हम उस कार्य के कर्तव्य होने का सूचक समझ सकते हैं।

स्मृतिचन्द्रिका—पृ० ५

मनःपरितोष केवल कई वैकल्पिक मार्गों में से एकको चुनने ही में प्रमाण हो सकता है।

श्रुत्यादि प्रमाणों का आपेक्षिक बलाबल।

इन प्रमाणों के आपेक्षिक प्रामाण्य के प्रसंग मनु. (२।१०) ने कहा है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

'वेद को श्रुति और धर्मशास्त्र को स्मृति समझना। सभी विषयों में इन दोनों के प्रसंग तर्क वितर्क करना उचित नहीं, क्योंकि इन्हीं दोनों से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ'।

मेधातिथि के मत में यहां 'आचार' भी 'स्मृति' के अन्तर्गत है। पर कुल्लूक इसे नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि इस वाक्य में स्पष्ट रूप से स्मृति को आचार के अलग और ऊपर रक्खा है—जिसका आशय यह है कि स्मृति के विरुद्ध आचार परित्याज्य है।

फिर मनु ने (२।१४) कहा है—

'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ'।

जहां कहीं दो श्रुतिवाक्यों में विरोध पाया जाय तहां दोनों पक्षों को धर्म मानना। इसी तरह दो स्मृतियों के विरोध में (मेधातिथि) अर्थात्

जब दो स्मृतियों में कोई कर्म दो विरुद्ध प्रकार से कहा गया पाया जाय तो दोनों को वैकल्पिक मानना चाहिये ।

याज्ञवल्क्य–१।७ पर विश्वरूप

मनु के अनुसार सभी धर्म सम्बन्धी विषयों में वेद का प्रामाण्य सब से ऊंचा है । स्मृतिकारों ने स्वयं भी श्रुति के प्रति स्मृति के प्रामाण्य को बहुत दुर्बल माना है । जिसका सारांश यह है कि जहां स्मृति श्रुति के विरुद्ध है वहां उसका परित्याग करना ।

अपरार्क–याज्ञ.–१।७

'धर्म स्वरूप के निरूपण में श्रुति ही एक परिशुद्ध प्रमाण है'—ऐसा व्यास का वचन है। 'परिशुद्ध' का अर्थ है 'निःशंक'; जिसके प्रति अप्रामाण्य की शंका नहीं हो सकती । और सब प्रमाणो का प्रामाण्य मिश्र–संकीर्ण है– अर्थात् उनके प्रति दोष की शंका रहती है । इसी लिये वेद में जो कहा है उसीको सर्वोत्कृष्ट धर्म मानना चाहिये । पुराणों में और स्मृतियों में जो धर्म कहा है उसे नीचे दरजे का धर्म मानना होगा । इनके अतिरिक्त मनुष्यनिर्मित जितने ग्रन्थ हैं उनका प्रामाण्य धर्म के विषय में नहीं माना जा सकता। वसिष्ठ ने कहा है–'धर्म वही है जिसका उपदेश श्रुति-स्मृति में है–इनके अभाव में शिष्टों का आचार प्रामाणिक माना जा सकता है ।'

संस्कारमयूख--- पृ० १

प्रामाण्य का दरजा इस क्रम से है–(१) श्रुति–(२) स्मृति–(३) सदाचार –(४) स्वस्य प्रियं–(५) सम्यक्सङ्कल्पजकाम । स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे अधिक प्रामाणिक है जैसा अङ्गिरस ने कहा है–'मनु के विरुद्ध स्मृति प्रामाणिक नहीं समझी जाती' ।

स्मृतिचन्द्रिका–पृ० १५-१७

मनु ने कहा है–'जहां दो श्रुतियों में विरोध हो वहां दोनों को प्रामाणिक मानना चाहिये–अर्थात् दोनों धर्मों को वैकल्पिक मानना होगा । इसी तरह दो स्मृतियों का विरोध जहां हो । पर जहां श्रुति और स्मृति में

विरोध हो तहां स्मृति का त्याग ही उचित होगा, जैसा वसिष्ठ ने कहा है। जहां मनुस्मृति का और स्मृतियों से विरोध हो वहां मनु को प्रमाण मानना। अङ्गिरस् ने कहा है—

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमम्।
न हि तत् समतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः॥

बृहस्पति भी—

वेदादुपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्।

जहां एकही धर्म दो श्रुतियों में या दो स्मृतियों में कहा है-पर एक में विस्तृत रीति से दूसरीमें संक्षिप्त रीति से वहां विस्तृतरूपवाली ही को प्रमाण मान कर अनुष्ठान करना उचित होगा।

वीरमित्रोदय—परिभाषा प्रकाश पृ० २५-२६

जहां दो वेदवाक्यों में विरोध है तहां दोनोंका प्रामाण्य मानना होगा और व्यवहार में दोनों विधानों को वैकल्पिक मानना होगा। ऐसे ही जहां दो स्मृतियों में या दो सदाचारों में विरोध हो। जहां श्रुतिवाक्य और स्मृतिवाक्य में विरोध हो तहां श्रुति ही को प्रमाण मानना क्योंकि उसका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है और स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलकता पर निर्भर है। जहां स्मृति और सदाचार का विरोध है तहां स्मृति को प्रमाण मानना। जैसे मातुलकन्या से विवाह आचार प्राप्त होने पर भी स्मृति-विरुद्ध होने के कारण अनुचित समझा जाता है। दो श्रुतियों में यदि विरोध हो पर एकका अर्थ स्पष्ट हो दूसरेका संशयापन्न तो स्पष्टार्थ श्रुतिवाक्य प्रमाण माना जायगा। सामान्य शास्त्र और विशेष शास्त्र में विरोध होने से विशेष शास्त्र ही प्रमाण माना जायगा। स्मृतियों में भी आस्तिक स्मृति नास्तिक स्मृति की अपेक्षा अधिक-प्रामाणिक मानी जायगी। दृष्टार्थ वाक्य की अपेक्षा अदृष्टार्थ वाक्य अधिक प्रामाणिक माना जायगा। वैदिक अर्थवाद में जिसका मूल है ऐसी स्मृति की अपेक्षा वैदिकविधि जिसका मूल है सो स्मृति अधिक प्रामाणिक मानी जायगी। 'आचार' 'मन स्तुष्टि' से अधिक प्रामाणिक है—और मनस्तुष्टि सम्यक्सङ्कल्पजकाम से। कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि उत्कृष्ट प्रमाण का बाध निकृष्ट प्रमाण से होता है।

जैसे सौत्रामणि याग में मद्यपीना यद्यपि श्रुति में विहित है तथापि कलियुग में इसका निषेध स्मृतियों में है—इस स्मार्त निषेध से श्रौतविधि का बाध हो जाता है। मनु के विरुद्ध स्मृत्यन्तर बाधित होती है। देश—जाति—कुल का आचार यदि वेद या स्मृति या पुराण के विरुद्ध है तो प्रमाण नहीं है। श्रुतिस्मृति के विरोध में श्रुत्युक्त धर्म ही का अनुष्ठान करना, इसकी युक्ति यह भी है कि श्रुत्युक्त धर्म मुख्य कल्प है और स्मृत्युक्त गौणकल्प—मनु (११।३०) ने कहा है जहां गौणमुख्य दोनों कल्प उपस्थित हों वहां यदि गौणकल्प का अनुष्ठान किया जाय तो वह अनुष्ठान निष्फल होता है। इस लिये स्मृति के प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए भी यदि हम स्मृत्युक्त कल्प का अनुसरण करेंगे तो काम निष्फल होगा। इस लिये श्रुत्युक्त कल्प ही का अनुसरण करना उचित है।

धर्मशास्त्र परिवर्तनशील है—समयभेद से बदलता आया है—इसको पराशर (१।२२–३४) ने स्पष्ट कहा है

अन्ये कृतयुगे धर्म्माः त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ॥२२॥

तपःपरं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेव कलौ युगे ॥२३॥

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥२४॥

त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकन्तु कर्तारन्तु कलौयुगे ॥२५॥

कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥२६॥

कृते तत्क्षणिकः शापः त्रेतायां दशभिर्दिनैः।
द्वापरे चैकमासेन कलौ संवत्सरेण तु ॥२७॥

अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥२८॥

कृते त्वस्थिगताः प्राणाः त्रेतायां मांसमाश्रिताः।
द्वापरे रुधिरं चैव कलौत्वन्नादिषु स्थिताः ॥३२॥

युगे युगे च ये धर्मास्तत् तत् च ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः ॥३३॥

इन वाक्यों का आशय यों है—

कृतयुग के धर्म और हैं—त्रेताके और—द्वापर के और—कलियुग के कुछ और ही । युगों के स्वरूपानुसार युगों के धर्म होते हैं ॥२२॥

कृतयुग में तपस्या सबसे श्रेष्ठ धर्म था—त्रेता में ज्ञान—द्वापर में यज्ञ, कलियुग में दान है ॥२३॥

कृतयुग में मनुप्रणीत धर्मशास्त्र—त्रेता में गौतमप्रणीत—द्वापर में शङ्खलिखित-प्रणीत—कलियुग में पराशर-प्रणीत ॥२४॥

कृतयुग में जिस देश में पाप हो उस देश ही का त्याग होता था—त्रेता में उस ग्राम का—द्वापर में उस कुल का—कलियुग में केवल पाप करनेवाले ही का त्याग ।२५॥

कृतयुग में पतित से सम्भाषण ही से मनुष्य पतित होता था—त्रेता में उसके स्पर्श से—द्वापर में उसके अन्न खाने से—कलि में केवल वैसा कर्म करने से ॥२६॥

कृतयुग में शाप तत्क्षण लगता था—त्रेता में दश दिन में—द्वापर में एक महीने में—कलियुग में एक बरस में ॥२७॥

कृतयुग में पात्र के पास जाकर दान दिया जाता था—त्रेता में उसे अपने पास बुलाकर —द्वापर में उसके मांगने पर—कलियुग में उसके सेवा करने पर ॥२८॥

कृतयुग में मनुष्य के प्राण हड्डी में रहते थे—त्रेता में मांस में—द्वापर में शोणित में—कलियुग में अन्नादि में ॥३२॥

जिन जिन युगों में जो धर्म हैं—वहां जो जो ब्राह्मण हैं—उनकी निन्दा नहीं करना । क्योंकि युगस्वभाव के अनुरूप ही ब्राह्मण होते हैं ॥३३॥

इन वाक्यों पर टीका करते हुए माधवाचार्य यों लिखते हैं—युगभेद से जो धर्म में भेद बतलाया है सो धर्म के स्वरूप में नहीं, प्रकार में । अर्थात् क्या धर्म है इसमें भेद नहीं है, किस प्रकार धर्म का अनुष्ठान होगा इसी में भेद है ।

धर्म के प्रमाण के विषय में ये सिद्धान्त हैं—(१) वेद सबसे पहिला सबसे श्रेष्ठ है। (२) स्मृति उतनी ही दूर तक प्रमाण है जहां तक श्रुति के विरुद्ध नहीं हैं और उन्हीं विषयों में जिसमें श्रुतिप्रमाण नहीं उपलब्ध है। (३) आचार शिष्टों ही के अनुसरण योग्य हैं—पर वे ही जो श्रुति-स्मृति के विरुद्ध नहीं हैं। (४) परिषद् के सिद्धान्त को प्रमाण मानना पर जब श्रुति के विरुद्ध नहीं हों और जब उन सिद्धान्तों का कारण रागद्वेषादि न हो।

एक भी वाक्य नहीं है जहां यह कहा हो कि आचार से श्रुति या स्मृति-वाक्य का बाध होता है।

धर्म के प्रमाण क्या हैं इस विषय का सामान्य रूप मे विचार हो चुका।

'धर्मशास्त्र' इस सामान्य नाम से जो ग्रन्थसमूह समझे जाते हैं उनके प्रसंग में कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। इन ग्रन्थों के पांच विभाग हैं—(१) धर्मसूत्र, (२) स्मृति (श्लोकबद्ध) (३) पुराण (४) स्मृतियों के भाष्य–टीका, (५) निबन्ध।

(१) धर्मसूत्र

आपस्तम्ब] धर्मसूत्रों में सबसे पूर्ण रूप आपस्तम्ब का समझा गया है। आपस्तम्बियों की वेदशाखा कृष्ण-यजुर्वेद है। आपस्तम्ब का सम्पूर्ण ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें ३० अध्याय हैं। इसीके दो अध्याय–२८, २९–'धर्मसूत्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। सूत्रों में वेदाध्ययन, ब्रह्मचारिधर्म, अशौच, भक्ष्याभक्ष्यविचार, स्नातकधर्म, गृहस्थधर्म, विवाह, दायभाग, दंड–इतने प्रकरण पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ का समय ईसा के पहिले चारवीं या पांचवीं शताब्दी माना गया है। आपस्तम्ब प्रायः दक्षिण के रहनेवाले थे। आपस्तम्बधर्मसूत्र से सम्बद्ध हिरण्यकेशीय सूत्र पाया गया है। कहा जाता है कुछ आपस्तम्बीय ब्राह्मण आन्ध्र देश से जाकर कोङ्कण में बसे और उनके वहां जाने पर हिरण्यकेशीय धर्मसूत्र लिखा गया। हिरण्यकेशीय धर्मसूत्र भी आपस्तम्बीय धर्मसूत्र की तरह–उसी नाम के कल्पसूत्र का २६।२७ अध्याय है।

बैाधायन [बोधायन]

यजुर्वेद के सबसे प्राचीन धर्मसूत्र वौधायन के हैं। यद्यपि यह आपस्तम्ब के ऐसा सर्वांगपरिपूर्ण नहीं है तथापि कृष्णयजुर्वेद-सम्बन्धी धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन है। आपस्तम्ब के सूत्र बैाधायन से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। और दोनों को मिलाने से यह बोध होता है कि बैाधायन आपस्तम्ब से प्राचीन हैं। लेखशैली भी बैाधायन की आपस्तम्ब से अधिक पुरानी मानी गई है। इसमें ये प्रकरण हैं—देशाचार में भेद, ब्रह्मचारी, स्नातक, अशैाच, बलि, वर्णसङ्कर, राजधर्म, साक्षी परीक्षा, स्त्री-पुरुष-धर्म, प्रायश्चित्त, दायविभाग, स्त्रियों की स्थिति, शपथ, पञ्च महायज्ञ, चारों आश्रम, भक्ष्याभक्ष्य, श्राद्ध, गृहस्थधर्म, वानप्रस्थधर्म, संन्यासिधर्म—शान्तिपैाष्टिक। इन सूत्रों के ४ खंड श्लोक में पाये जाते हैं। इसी कारण से कहा गया है कि ये प्राचीन नहीं हैं। इस धर्मसूत्र की पूर्ण विश्वसनीय लिखित प्रतियां कम मिलती हैं। बैाधायन के अनुयायी प्रायः आजकल कोई खास ब्राह्मणमंडली नहीं पाई जाती। पर इसके अनुयायी दक्षिण में थे इसका प्रमाण मिला है। शायणाचार्य भी इसी शाखा के थे। आपस्तम्ब की तरह यह धर्मसूत्र भी दक्षिण ही में लिखा गया।

गौतम

सामवेद की राणायनीय शाखा के धर्मसूत्र गैातम के हैं। यह धर्म-सूत्र छन्दोगों हीं का है ऐसा कुमारिलने भी कहा है। राणायनीयों का मुख्य निवासस्थान महाराष्ट्र था। हैदराबाद प्रान्त में अब भी इस शाखा के ब्राह्मण पाये जाते हैं। सामवेद से इस सूत्र का सम्बन्ध है; इससे और भी दृढ़ होता है कि गैातमसूत्र का अध्याय २६ अक्षरशः सामविधान ब्राह्मण का है। लेखशैली इसकी भी पुरानी है। इसमें ये प्रकरण हैं—धर्ममूल, ब्रह्मचारिधर्म, वानप्रस्थधर्म, गृहस्थधर्म. विवाह, अभिवादन, ब्रह्मयज्ञ, स्नातकधर्म, चारों वर्ण के धर्म, राजधर्म, अशैाच-श्राद्ध-वेदाध्ययन, स्त्रियों की स्थिति, प्रायश्चित्त, दाय-विभाग। अबतक जितने धर्मसूत्र मिले हैं उनमें गैातम धर्मसूत्र को किसी किसीने सबसे प्राचीन माना है। इनके मत में आपस्तम्ब से कई शताब्दी पहिले गैातम का समय होगा।

वशिष्ठ

वशिष्ठ धर्म्मशास्त्र की पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं। इसमें भी तीस अध्याय हैं। इसमें गद्य पद्य मिले हुए हैं। विषय इसका भी धर्मसूत्रों की तरह है—धर्मनिरूपण, चारों वर्ण की उत्पत्ति तथा धर्म, अतिथिसेवा, अशौच, स्त्रियों के अधिकार, नित्यकर्म, चारों आश्रम, विवाह, वाणप्रस्थ तथा सन्यासियों का धर्म, गृहस्थधर्म, स्नातकधर्म, वेदाध्ययन, अभिवादन के नियम, भक्ष्याभक्ष्य, पातित्य, रहस्यप्रायश्चित्त, इष्टापूर्त। वशिष्ठ के सूत्रों को पढ़ने से कई अंशों में प्राचीनता की सूचना मिलती है। विवाह इसमें छः प्रकार के पाये जाते हैं, आठ प्रकार के नहीं। कुमारिल के अनुसार यद्यपि वशिष्ठ के ग्रन्थ को केवल ऋग्वेदी ही पढ़ते थे तथापि और लोगों में भी इसका मान था। ऋग्वेद से सम्बन्ध इस धर्मसूत्र का इस बात से भी सूचित होता है कि तीन चार स्थल में ऋग्वेदसंहिता का प्रमाणत्वेन उल्लेख है। वशिष्ठ के सूत्रों में अधिकतर उन संहिताओं और सूत्रों के वाक्य पाये जाते हैं जिनका प्रचार उत्तर भारत में था, जिससे यह सूचित होता है कि ये भी उत्तर भारत में रहे होंगे। इनके ग्रन्थ में यम, प्रजापति, हारीत, गौतम, तथा मनु—इन स्मृतिकारों के वाक्य उल्लिखित पाये जाते हैं। इस धर्मसूत्र में कुछ वाक्य मनु के नाम से भी उद्धृत हैं पर ये प्रसिद्ध मनुस्मृति में नहीं पाये जाते। लोगों का अनुमान है कि ये वाक्य उस प्राचीन 'मानवधर्मसूत्र' के हैं जिसके आधार पर भृगु ने प्रसिद्ध मनुस्मृति का संग्रह किया। प्रसिद्ध मनुस्मृति में वशिष्ठ के वचन पाये जाते हैं। इससे यह सिद्ध समझा गया है कि वशिष्ठ धर्मसूत्र मनुस्मृति से प्राचीन और गौतम से अर्वाचीन है। ऐसा होते हुए भी लोगों की धारणा है कि वशिष्ठसूत्र ईसा से कई शताब्दी पहले का होगा और ऋग्वेदियों का सूत्र है—उत्तर भारत में सङ्कलित हुआ।

विष्णु

विष्णु स्मृति सर्वाङ्गपरिपूर्ण १०० अध्याय का ग्रन्थ है—पुराणों के ढंग पर विष्णु और पृथ्वी के संवाद रूप में पाया जाता है। मनुस्मृति की तरह इसे भी लोग एक प्राचीन विष्णुसूत्र के आधार पर संगृहीत

बतलाते हैं। इसके श्लोकात्मक वचन प्रायः सभी अधिकांश मनुस्मृति में और कई और स्मृतियों में भी पाये जाते हैं। काठकगृह्यसूत्र के वचन जिस तरह इस स्मृति में हैं इससे यह सूचित होता है कि काठकशाखा सम्बन्धी यह धर्मसूत्र है। ऐसी समता विशेष कर श्राद्ध-वृषोत्सर्ग-वैश्वदेव प्रकरणों में पायी गयी है। गोविन्दराज (बारहवीं शताब्दी) की स्मृतिमञ्जरी में एक वाक्य 'काठकसूत्रकृत्' का उद्धृत है जो विष्णुस्मृति में नहीं है। काठकशाखीय ग्रन्थों की रचना तथा प्रचार काश्मीर में हुआ—ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें संस्कृत के ग्रन्थों में सबसे प्राचीन होना चहिये—पर प्रसिद्ध विष्णुस्मृति में ऐसी प्राचीनता के चिह्न नहीं पाये जाते। इस स्मृति की नवीनता के प्रमाण में निम्नलिखित विषयों का उल्लेख भी माना गया है—(१) वैष्णवमत-सूचक वाक्य (२) सात दिन का सप्ताह (३) बृहस्पति दिन का नाम 'जैव' (४) विधवा का सती होना (५) पुस्तक (६) हिन्दुस्तान भर के तीर्थ (७) आर्यावर्त की सीमा (८) त्रिमूर्ति। ये सब वाक्य अवश्य नवीन होंगे ऐसी धारणा लोगों की है। पर समस्त विष्णुस्मृति के समय का किसी प्रकार निश्चय नहीं हो पाया है। व्यवहारनिर्णय विषय का अंश बहुत प्राचीन है। राजधर्म, दंड, दायविभाग, वर्णसंकर—ये प्रकरण बहुत प्राचीन हैं पर ऋण तथा व्यवहारमातृका के प्रकरण उतने प्राचीन नहीं हैं। और विषय इस स्मृति में ये हैं—श्राद्ध, अशौच, स्त्रियों के अधिकार, संस्कार, वेदाध्ययन, पाप-प्रायश्चित्त, नरक, पुनर्जन्म, गृहस्थधर्म, स्नातकधर्म, भिक्षा, वानप्रस्थधर्म, संन्यासिधर्म। इसकी भाषा में लोगों को प्राचीनता नहीं देख पड़ती। विष्णुस्मृति के वाक्य और स्मृतियों में उद्धृत नहीं पाये जाते। सब बातों को विचार कर लोगों ने सिद्धान्त किया है कि इस स्मृति का काल ईसा के उत्तर तृतीय शताब्दी से प्राचीन नहीं हो सकता।

हारीत

हारीत स्मृति की सम्पूर्ण प्रति एक ही मिली है। इसमें ३० अध्याय हैं और विषय लगभग विष्णुस्मृति ही की तरह हैं। इसके व्यवहार तथा श्राद्धप्रकरणों में प्राचीनता स्पष्ट झलकती है। पर व्यवहारमातृका तथा ऋण-प्रकरण में जो श्लोकवाक्य उद्धृत हैं वे नवीन से लगते हैं।

हेमाद्रि में तथा पराशरमाधव में इस स्मृति के वचन बहुत पाये जाते हैं। प्रायः ये सब वाक्य, ३० अध्याय जो मिले हैं, उनमें पाये जाते हैं। 'उशनस्' स्मृति में हारीत स्मृति की चर्चा है। 'अत्राप्युदाहरन्ति' कह कर बहुत से प्राचीन वैदिक तथा स्मृतियों के वाक्य इसमें उद्धृत हैं। इसमें ये प्रकरण हैं—धर्मशास्त्र का मूल–ब्रह्मचर्य–स्नातक–गृहस्थ–वानप्रस्थ–संन्यासी–अभक्ष्य—प्रतिग्रह–ऋत्विक्—श्राद्ध—पंक्तिदूषक—पंक्तिपावन—आचार—पाकयज्ञ—वेदाध्ययन—ब्रह्मचर्य–यम नियम अशौच—प्रायश्चित्त—साक्षी—व्यवहार—लौकिक शास्त्र–स्त्रियों के अधिकार–महापातक–ब्राह्मणभोजन–रहस्यप्रायश्चित्त। यह स्मृति मैत्रायणी शाखा से सम्बन्ध रखती है। आपस्तम्ब और बौधायन के सूत्र में हारीत के नाम से वाक्य पाये जाते हैं, पर ये वाक्य उपलब्ध हारीतस्मृति में नहीं मिलते। इससे लोगों का यह अनुमान है कि हारीत का एक प्राचीन धर्मसूत्र भी रहा होगा। हारीत की स्मृति में किसी प्राचीन स्मृति का उल्लेख नहीं है। पर 'प्रजापतिः' 'मनुरब्रवीत्' 'आचार्याः' इत्यादि प्रयोग पाये जाते हैं। इस की पुस्तक मिली है नासिक में, पर लोगों का अनुमान है कि यह काश्मीर में लिखा गया होगा।

वैखानस सूत्र

वैखानस सूत्र में सात प्रश्नों मे 'गृह' का निरूपण और चार प्रश्नों में 'गृहधर्म' का निरूपण है। गृहधर्मप्रकरण मे चारों आश्रमों का दो तरह के वानप्रस्थ, इनका धर्म—भिक्षुओं का धर्म—वर्णसंकर, प्रवर इत्यादि विषय हैं। इसमे व्यवहार खंड नहीं है। नाम से भी कुछ ऐसा भान होता है कि वानप्रस्थों ही का धर्मनिरूपण इसका प्रधान विषय है। 'वानप्रस्थ' को 'विखानस' भी कहते हैं। गौतम (३।२) बौधायन (२।११।१०) और मनु में (६।२१) 'वैखानसमत' 'वैखानस शास्त्र' का उल्लेख मिलता है। जिसको टीकाकारों ने विखानसरचित वानप्रस्थधर्मनिरूपक ग्रन्थ माना है। वानप्रस्थधर्म के प्रसंग की बहुत सी बातें इसमें हैं जो और स्मृतियों में नहीं मिलते—जैसे श्रामणकीय अग्निविधान–सपत्नीक तथा अपत्नीक वानप्रस्थ (इनकी चर्चा कुछ कुछ अन्य स्मृतियों में भी है) फेनप, औदुम्बर, कुटीचक इत्यादि वानप्रस्थ के प्रभेद। ['फेनप' वह है

जो केवल दूध का फेन चाटकर रहे, 'औदुम्बर' केवल गूमर का फल खाकर रहता है इत्यादि]। दम्पती के 'सहमरण' की चर्चा है जिससे लोगों ने इसे नवीन माना है। महादेव ने वैखानससूत्र को कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में सबसे नवीनशाखा का माना है।

इनके बाद कुछ स्मृतियां हैं जिनका अभी अंशमात्र उपलब्ध है इससे इन्हें लोगों ने 'खण्डस्मृति' मान रक्खा है। इनकी प्राचीनता के विषय में भी नाना प्रकार के संकल्प विकल्प किये गये हैं। पर प्रामाणिक निबन्धों में इनके वाक्यों का उल्लेख पाया जाता है इससे इनका विचार आवश्यक है। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनके नवीन होने में सन्देह नहीं हो सकता। जैसे (१) बुधस्मृति। इसका नाम किसी भी प्राचीन स्मृति-नामावली में नहीं पाया जाता। इसके वाक्य इधर के निबन्धों में भी कम ही पाये जाते हैं। उसमें संस्कार, यज्ञ, वर्णाश्रमधर्म और राजधर्म निरूपित हैं। (२) दूसरा है औशनसस्मृति। इसमें सात अध्याय हैं—गद्य-पद्यमय ग्रन्थ है। इसमें ये प्रकरण हैं-अशौच-जाति, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, विक्रेय-वस्तु, दंड। इसके वाक्य हेमाद्रि में तथा पराशरमाधव में उद्धृत हैं। मिताक्षरा, वीरमित्रोदय और मयूख में भी औशनस वाक्य उद्धृत हैं—पर ये उपलब्ध औशनसस्मृति में नहीं मिलते। औशनसस्मृति में मनुस्मृति का एक वाक्य उद्धृत है और मनु का भी उल्लेख कई जगह प्रमाणरूप से पाया जाता है। वसिष्ठ, हारीत, गौतम के भी वाक्य इसमें उद्धृत हैं। इससे यह सूचित होता कि यह स्मृति मनु, वसिष्ठ, हारीत और गौतम से अर्वाचीन और हेमाद्रि (दशम शताब्दी) से प्राचीन है। इसकी एक भी प्रति अच्छी या पूर्ण नहीं मिली है। इसमें ६१८ श्लोक और २ गद्य सूत्र हैं। प्रकरण इसमें ये हैं—नित्यकर्म, श्राद्ध, अशौच और प्रायश्चित्त। कई वाक्य इसके प्रायशः मनुस्मृति से मिलते हैं। (३) तीसरी छोटी स्मृति कश्यप की है जिसे कहीं कहीं 'उपकश्यप' भी कहा है। यह भी गद्यपद्यमय है। इसमें गृहस्था-चार और प्रायश्चित्त दो ही प्रकरण हैं। (४) अत्रिस्मृति—इसमें मनुस्मृति के वाक्य पाये जाते हैं। यह भी गद्यपद्यमय है। उपलब्ध अत्रिस्मृति में केवल प्रायश्चित्त और कर्मविपाक प्रकरण हैं। अत्रिस्मृतियां दो हैं 'लघु' और 'वृद्ध', 'वृद्ध अत्रि' का एक वचन पराशरमाधव में (१।४१२) पाया जाता है। (५) शातातप (वृद्ध—बृहद्) का नाम पराशर की स्मृतिना-

मावली में पाया जाता है। हेमाद्रि मिताक्षरा तथा और निबन्धों में इसके वाक्य उद्धृत हैं–विशेषतः प्रायश्चित्त, अशौच, दान, श्राद्ध के विषयों पर। (६) शङ्ख स्मृति। इसके १८ अध्याय मिले हैं। इनमें दो (११, १२) गद्य में हैं बाकी पद्य में। इसमें ये प्रकरण हैं—वर्णाश्रमधर्म, स्नान, आचमन, सन्ध्या, गायत्री, तर्पण, श्राद्ध, अशौच और प्रायश्चित्त। इसके बहुत से वाक्य मिताक्षरा जीमूतवाहन इत्यादि में उद्धृत हैं। लोगों का सिद्धान्त है कि यह स्मृति धर्मसूत्रों से अर्वाचीन और पद्यस्मृतियों से प्राचीन है।

मनुस्मृति का मूलभूत मानवधर्मसूत्र के प्रसंग बहुत कुछ लिखा गया है। पर जब तक यह ग्रन्थ पूर्ण या खण्डशः नहीं मिला है तब तक जो कुछ लिखा गया कपोलकल्पना मात्र कहा जा सकता है।

(७) इन स्मृतियों में जो स्मृति विशेष मान्य मानी गई है वह है शङ्खलिखितस्मृति। शङ्ख और लिखित नाम के दो भाइयों ने मिल कर इसे लिखा इस से यह स्मृति दोनों के नाम से प्रसिद्ध है। पराशर (१।२४) के अनुसार द्वापरयुग के लिये सबसे अधिक प्रमाण यही स्मृति है–जैसे कलियुग के लिये पराशर। कुमारिल के समय में भी यह स्मृति सर्वमान्य होती हुई भी वाजसनेयिशाखा वालों की विशेष मान्य थी। इसके श्राद्धकल्प के वचन वाजसनेयियों के आचरण से बिलकुल मिलते हैं।

(८) पैठीनसिस्मृति अथर्ववेद से सम्बन्ध रखती है। (९) कात्यायन–स्मृति भी शुक्ल–यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है।

(६) शातातप में ३० अध्याय हैं। प्रायश्चित्त, कर्मविपाक ये विषय इस में हैं। यह भी अपूर्ण मिलता है।

(१०) लिखित के नाम से जो स्मृति प्रसिद्ध है सो भी खण्डित है। और बहुत से निबन्ध मे इनके नाम के उद्धृत वाक्य इस स्मृति में नहीं मिलते।

ये स्मृतियों गद्यात्मक या गद्यपद्यात्मक हैं। अब शुद्ध पद्यात्मक पश्लोकमय स्मृतियों का विचार होगा।

मनुस्मृति

जितनी स्मृतियों नवीन या प्राचीन हैं सभोंमे हिन्दू संसार भरमें जितना मान मनुस्मृति का है उतना और किसीका नहीं। यह प्रतिष्ठा मनुस्मृति की नवीन नहीं है। स्मृतियों ने भी विशेषतः बृहस्पति और नारद–इसे

सब से ऊपर माना है। इधर आकर आठवीं शताब्दी में कुमारिल ने इसी स्मृति को सर्वमान्य कहा है। फिर छठा शताब्दी के एक शिलालेख में भी धर्मशास्त्रों में सबसे ऊंचा इसीको लिखा है। इसके सर्वमान्य होने का एक प्रमाण यह भी है कि इसमें विशेष पाठ भेद नहीं पाये जाते। इस स्मृति का महाभारत के साथ सम्बन्ध भी विलक्षण है। इसके २६० श्लोक ऐसे हैं जो अक्षरशः महाभारत में भी हैं। सिद्धान्त यह हुआ है कि इन दोनों ग्रन्थों ने एक दूसरे से इन वाक्यों को नहीं लिया है—दोनों ग्रन्थों का कोई प्राचीन मूल है। वसिष्ठ और विष्णुस्मृति में भी १६० श्लोक ऐसे हैं जो मनुस्मृति के है। वर्त्तमान मनुस्मृति का समय ईसा के उत्तर द्वितीय शताब्दी में माना गया है। धर्मसूत्रों से विशेष इस में यह है कि इसमें धर्म के सभी अङ्गों का निरूपण है। जैसे व्यवहार के विषय का निरूपण धर्म सूत्रों में संक्षिप्त ही पाया जाता हैं पर मनु के २६८४ श्लोकों में ७१३ (अध्याय ८,६ व्यवहार ही के विषय पर हैं। राज धर्म का भी निरूपण (७) जैसा विस्तृत और विशद् मनुमें है वैसा धर्मसूत्रों में नहीं। इनके अतिरिक्त सृष्टिप्रक्रिया (१) तथा दार्शनिक विषय (२) पितरों का विभाग (३), ब्राह्मणों की जीविका (४) भक्ष्याभक्ष्यनिरूपण (५) आपद्धर्म तथा वर्णसंकर (१०) तथा वर्णाश्रमधर्म (२-६) प्रायश्चित (११) ये सब इस स्मृति में विशदरूप से निरूपित हैं।

इस स्मृति में कुल १२ अध्याय हैं। पहले छः अध्यायों में सृष्टि-प्रक्रिया, वर्णाश्रमधर्म श्राद्ध वैश्वदेव इत्यादि विषय हैं। सप्तम से द्वादश अध्याय तक राजधर्म का विस्तृत निरूपण है। राजधर्म ही के सम्बन्ध में चारों वर्णों और वर्णसंकरों की वृत्तियों का दण्ड का, प्रायश्चित्त का पुनर्जन्म का भी निरूपण है। इसी प्रकरण में व्यवहार के १८ खंडों का निरूपण है (१) ऋणादान (२) निक्षेप (३) अस्वामिविक्रय (४) सम्भूय समुत्थान, (५) दत्तानपाकर्म, (६) वेतनादान, (७) संविद्व्यतिक्रम, (८) क्रयविक्रयानुशय, (६) स्वामिपालविवाद, (१०) सीमाविवाद, (११) दंडपारुष्य (१२) वाक्पारुष्य, (१३) स्तेय, (१४) साहस, (१५) स्त्रीसङ्ग्रहण, (१६) स्त्रीपुरुष धर्म, (१७) दायविभाग, (१८) द्यूतसमाह्वय।

मनुस्मृति का मूल कौन सा धर्मसूत्र है इसके विषय में नाना कल्पनायें हुई हैं। पर कुछ स्थिर सिद्धान्त अभी नहीं हो सका है। पर इतना तो

निश्चय है कि मनु ने पुराने धर्मशास्त्रों के और कुछ धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया है। वानप्रस्थधर्म के प्रकरण में 'वैखानसमते-स्थितः' ऐसा लिखा है। अत्रि–उतथ्यतनय–गौतम इनके नाम भी पाये जाते हैं।

मनु और भृगु के सम्बन्ध में भी नवीन विद्वानों ने नाना कल्पनायें की हैं। पर समझ में नहीं आता कि जो मनुस्मृति में लिखा है उसे हम सत्य क्यों न मानें। आदि उपदेशक मनु भगवान् थे। उनके पास जब उपदेश के लिये लोग गये तो उन्हें प्रायः फुरसत न थी–उन्होंने अपने प्रिय शिष्य का नाम बतला कर उनको आज्ञा दी कि धर्म का उपदेश जैसा मैंने तुमसे किया है वैसा इन्हें समझा दो। इस पर भृगुजी ने मनुस्मृति को और ऋषियों से कहा। इसी लिये मनुस्मृति को 'भृगुप्रोक्त' कहते हैं। इसमें कौनसी ऐसी बात है जिससे यह सत्य नहीं माना जाय सो समझ में नहीं आता।

मनुस्मृति का प्रभाव केवल हिन्दुस्तान में नहीं रहा। जहां जहां हिन्दू जाति गई वहां मनुस्मृति भी गई। वर्मा में जो धर्मशास्त्र प्रसिद्ध हैं उसका नाम पाली भाषा में 'मनु धम्मसत्थम्' अर्थात् 'मनुधर्मशास्त्रम्' है। जावा वाली में भी 'प्रभुमनु' प्रसिद्ध हैं और धर्मशास्त्र जो अब तक प्रचलित है उसका नाम 'मानवशास्त्र' है। इस शास्त्र में मनुस्मृति के सदृश वाक्य तो हैं ही–याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति के सदृश भी हैं।

भारतवर्ष या आर्यावर्त के किस प्रान्त में मनुस्मृति लिखी गई इसका विद्वान् लोग निश्चय नहीं कर सके हैं। पर मनुने (२।१८–२०) कुरुक्षेत्र मत्स्य, पांचाल, शूरसेन इन देशों का नाम 'ब्रह्मर्षिदेश' बता कर फिर कहा है कि इसी ब्रह्मर्षिदेश मे उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सभी मनुष्य को अपना अपना धर्म सीखना चहिये। मेरी समझ में तो इससे सूचित होता है कि मनुस्मृति इसी 'ब्रह्मर्षिदेश' में लिखी गयी। जब तक इसके बरुद्ध कोई बलवान् पमाण न मिले तब तक इसीको सिद्धान्त मानना उचित होगा।

मनुस्मृति की कई टीकायें हैं। अभी तक मिली हैं (१) मेधातिथि (२) गोविन्दराज (३) सर्वज्ञनारायण (४) कुल्लूक (५) राघवानन्द ६ नन्दन

(७) रामचन्द्र। इनके अतिरिक्त 'भारुचि' तथा 'उदयकर' के नाम निबन्धों में मिलते हैं।

नारद स्मृति के उपोद्घात प्रकरण में लिखा है—'मनुभगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में एक ग्रन्थ रचा जिस में धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र इत्यादि सभी विषयों की शिक्षा थी। इसमे एक लाख श्लोक २४ अध्यायों में विभक्त थे। इस विशाल ग्रन्थ का संक्षेप नारद ने १२००० श्लोकों में किया। भृगु के पुत्र ने इसका भी संक्षेपे ४००० श्लोकों में किया"। निबन्धों में भी कई जगह वृद्धमनु का नाम और उनके वाक्य पाये जाते हैं। सम्भव है ये वाक्य उन्हीं लाखश्लोकों में के हों। मेरे मित्र महामहोपाध्याय पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी ने मुझे काशी में बटुकभैरवमन्दिर के पास एक अधजली पुस्तक 'वृद्धमनु' की है ऐसा कहा करते थे। पर वारवार कहने पर भी उसे नहीं ला सके। महाभारत में आदि-मनुस्मृति के काल क्रम से चार संस्कर्ता बताये हैं—भृगु, नारद, बृहस्पति, अङ्गिरस्, कहीं कहीं इन चारों के स्थान में 'शंकर, इन्द्र, बृहस्पति, कात्य' ये चार नाम पाये जाते हैं।

याज्ञवल्क्य

मान में मनु के बाद याज्ञवल्क्य का दरजा है। यह स्मृति मनुस्मृति से अर्वाचीन माना गया है। विहारियों को, विशेष कर मैथिलों को, इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये मैथिल थे। जनक को ब्रह्मविद्या सिखलाई थी। ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् मे लिखा है। और अपनी स्मृति को इन्होंने मिथिला ही में रहते हुए लिखा यह बात स्मृति ही में लिखी है—

मिथिलास्थःस योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।

मनुस्मृति से यह स्मृति अधिक संक्षिप्त है—इसमें केवल १००८ श्लोक हैं। मनु में २६८४। और कुछ ऐसा भान होता है कि मनुस्मृति के उपयोगी भागों के सारंश निकाल कर यह स्मृति रची गई। इसमें तीन अध्याय हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। तीनों लगभग बराबर ही हैं। अठारहों विवाद पदों का क्रम इसमें मनुसे दूसरी तरह है। दायभाग के विषय में स्त्रियों के प्रति याज्ञवल्क्य ने उतनी कठोरता नहीं

दिखलाई है जितनी मनु ने। याज्ञवल्क्य ने (२।१३६) विधवाओं के और पुत्रियों के स्वत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। मनु ने तो स्त्रियों को दासों की तरह एकदम स्वत्वहीनही कर दिया है। ऋणादान, आधि, आसेध, प्रतिभू इत्यादि विषय मे भी मनुसे अधिक विस्तृत निरूपण याज्ञवल्क्य में पाया जाता है। दंड का प्रकरण उतना विशद नहीं है जितना मनु मे। प्रमाण के विषय में भी मनुने केवल साक्षियों का वाचनिक प्रामाण्य मान कर साक्षियों के अभाव में दिव्य ही को एक गति मानी है। पर याज्ञवल्क्य ने लिखित, साक्षी, भोग इनके वाद दिव्य कहा है। इन प्रमाणों का निरूपण याज्ञवल्क्य में अधिक उपयोगी ढ़ंग से किया गया है याज्ञवल्क्यस्मृति और विष्णुस्मृति में वहुत समता पाई जाती है—विशेषतः उन अंशों में जिन में विष्णुस्मृति और मनुस्मृति मे भेद है। ताम्रपत्र तथा और राजशासनों पर प्रधान विवाद के निर्णयपत्रों पर राजा का हस्ताक्षर होना चाहिये—दाय भाग के विषय में पैतृकसम्पत्ति और स्वोपार्जित सम्पत्ति में भेद इत्यादि विषयों में विष्णु और याज्ञवल्क्य वहुत मिलते जुलते हैं। इस तुलना में एक वात पर बड़ा जोर दिया गया है। विष्णु ५।१२२ और याज्ञवल्क्य २।२४० दोनों के विषय लग भग एक ही है। पर याज्ञवल्क्य मे 'नाणक' पदपाया जाता है—विष्णु में नहीं। इससे यह कहा गया है कि याज्ञवल्क्य विष्णु से अर्वाचीन हैं क्योंकि 'नाणक' पद सिक्का का नाम है। विष्णु के समय में सिक्का नहीं थे—याज्ञल्क्य के समय में थे। याज्ञवल्क्य जैसे विष्णु के ऋणी हैं वैसे ही मानवगृह्यसूत्र के भी—विशेष कर विनायकशान्ति के प्रकरणमें। पर सब से अधिक घनिष्ठ-सम्बन्ध याज्ञवल्क्य का शुक्लयजुर्वेदसे है। यजुर्वेदकी एक शाखा ही याज्ञवल्क्य के नाम से सम्बृद्ध है जिसे लोग 'माध्यन्दिन' कहते हैं। इसके प्रसंग एक विलक्षण कथा प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य ने जिन गुरु से यजुर्वेद पढा उन्होने उनसे किसी कारण वश असन्तुष्ट हो कर कहा—'मुझ से जो वेद तुमने पढा है उसे दे दो'। इस पर याज्ञवल्क्य ने वेदमन्त्रों को मुह से निकाल दिया। उनके गुरुने तित्तिर हो कर उन मन्त्रों को चुन लिया। इसी कारण से इस के वाद उन गुरु जी का पढ़ाया वेद तैत्तिरीय' (तित्तिरसम्बन्धी) शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मनुष्य—अध्यापक से असन्तुष्ट हो कर याज्ञवल्क्य सूर्य भगवान् के पास विद्या पढ़ने को गये।

सूर्य ने कहा 'मुझे तो फुरसत नहीं रहती केवल मध्याह्न में क्षण भर की फुरसत मिलती है उसी क्षण में जो हो सकेगा पढा दूंगा'। याज्ञवल्क्य ने इस तरह मध्याह्न क्षणों हीं मे पढ़ कर वेद समाप्त किया। इसी कारण याज्ञवल्क्य का पढाया वेद 'माध्यन्दिन' शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ३।१०९ में याज्ञवल्क्य ने स्वयं कहा है—'आरण्यक को मैंने आदित्य से पाया'।

फिर याज्ञवल्क्य और यजुर्वेदीय पारस्करगृह्यसूत्रमें भी बहुत कुछ समता है। यजुर्वेद का ब्राह्मण है शतपथ, और उपनिषद् है बृहदारण्यक। इन दोनों ग्रन्थों मे याज्ञवल्क्य प्रधाननायक की तरह हैं। कात्यायनीय श्राद्धकल्पसूत्र के भी कई वाक्य याज्ञवल्क्य स्मृति मे हैं। इन सब बातों से यह अनुमान किया गया है कि मनुस्मृति की तरह याज्ञवल्क्यस्मृति का मूल यजुर्वेदी कोइ धर्मसूत्र ही होगा। इन सब बातें से और ग्रीसदेशीय नक्षत्रों के ज्ञान का भी लेश याज्ञवल्क्यस्मृति में पाया जाता है—इस से भी इस स्मृति का समय ईसा के बाद तृतीय शताब्दी माना गया है।

नारद

नारद ने अपने उपोद्घात मे लिखा है कि नारद की स्मृति लाख श्लोकवाली आदि मनुस्मृति का १२००० श्लोक मे संक्षेप है। महाभारत मे भी नारद को मनुस्मृति का एक संस्कर्ता बताया है। इससे नारदस्मृति की मनुस्मृति की अपेक्षा अर्वाचीनता भासित होती है। इस अर्वाचीनता के साधक और भी हैं। मनु मे जो १८ विवाद पद हैं उनके १३२ अवान्तर विभाग नारद में हैं। दास के १५ प्रकार हैं—२१ प्रकार का व्यापार, ११ प्रकार के साक्षी—तीन तरह का साहस'। इतने विभाग मनुमें नहीं हैं। द्यूत का मनु ने निषेध किया है, पर नारद का कहना है कि यदि खुली जगह में राजा की आज्ञा से द्यूत खेला जाय तो हर्ज नहीं है। दायविभाग में 'ज्येष्ठांश' की चाल को बहुत संकुचित कर दिया है। पत्नी तथा अविवाहिता पुत्री का पुत्रवत् भाग कहा है। ऋण के विषय में स्वामी के ऋण के प्रसग पत्नी का दायित्त्व कम कर दिया है। प्रमाणों के विषय में लिखितप्रमाण और पूर्ववृत्तान्त को मुख्यता दी है। एक पुस्तक में नारदस्मृति का नाम 'नारदप्रोक्ता मनुसंहिता' लिखा है।

याज्ञवल्क्य से पीछे नारद स्मृति है। याज्ञवल्क्य में विष्य पांच ही हैं, नारद में दो चार अधिक हैं। और कई आवान्तर विभाग जो पहले कह आये हैं वे याज्ञवल्क्य में भो नहीं हैं। बालिग होने के नियम व्यवहार योग्य होने के नियम नारद में हैं सो याज्ञवल्क्य मे नहीं। साक्षियों के विषय मे भी जितना पूर्ण विचार नारद में है उतना याज्ञवल्क्य में नहीं। प्रीतिदान, निक्षेप, दास भृसेतु, क्लीवत्व और उसका प्रतीकार, व्यभिचारिणी स्त्री, पत्नीपरित्याग, वाक्पारुष्य, द्यूत, सर्वस्वहरण, उपपातक—इन सब विषयों के प्रसंग बहुत कुछ नारदस्मृति में है जो याज्ञवल्क्य में नहीं है।

नारद ने 'दीनार' का उल्लेख किया है—दीनार इस देश में ग्रीस के सम्पर्क से आया। इसके आधार पर यह सिद्धान्त किया गया है कि नारद स्मृति ईसा के उत्तर दूसरी और पांचवीं शताब्दी के बीच में लिखी गई। बाणभट्ट ने एक नारदीयधर्मशास्त्र की चर्चा की है। नारद नेपाल के वासी माने गये हैं।

नवीनश्लोकबद्ध स्मृतियाँ।

नई नई स्मृतियों का बनना बराबर लगभग ईसवी १००० तक जारी रहा ऐसा मालूम होता है। पर नाम इनके प्रसिद्ध प्राचीन स्मृतिकार ऋषियों ही के नाम पर रक्खे गये। इसी कारण से अङ्गिरस, अत्रि, आपस्तम्ब उशनस्, कात्यायन, गौतम, पराशर, बृहस्पति, यम, लिखित, वसिष्ठ विष्णु, व्यास, शातातप, हारीत—इनके नाम से कई स्मृतियां बनगई। नवीन ग्रन्थ में लोगों के विश्वास उत्पन्न करने के लिये प्रसिद्ध ऋषियों के नाम से ये स्मृतियां प्रसिद्ध की गई और एक ही नाम के दो स्मृतियों के भेद सूचन करने के लिये 'वृद्ध' 'मध्यम' इत्यादि विशेषण लगाये गये। जैसे—'वृद्धयम' इत्यादि। इन नवीन स्मृतियों के विषय भी ऐसे हैं जिनके देखने ही से मालूम होता है कि ये पुरानी स्मृतियों के टक्कर के नहीं हैं। व्यवहारकाण्ड तो इनमें हई नहीं।

इनमें कई तो ऐसी हैं जिनमें नवीनता के चिह्न स्पष्ट हैं। जैसे पराशरस्मृति। इसमें लिखा है कि कृतयुग के लिये मनु, त्रेता के लिये

गौतम, द्वापर के लिये शङ्खलिखित और कलियुग के लिये पराशर स्मृति है। इससे सूचित होता है कि पराशर ने स्वयं अपनेको मनु इत्यादि से नवीन माना है। पराशर ने जैसे उत्साह से ब्राह्मण के लिये कृषि (खेती) वृत्ति विहित कहा है वैसा प्राचीन स्मृतियों में नहीं पाया जाता। फिर प्राचीन १२ तरह के पुत्रों में से इन्होंने चार ही माने हैं। पराशर ने सती-प्रथा की प्रशंसा की है।

पराशर के अतिरिक्त एक 'बृहत् पराशर' भी है। यह पराशर स्मृति ही का परिवर्धित संस्करण सा भासित होता है। इस वृद्ध-पराशर-स्मृति के नवीन होने के और भी चिह्न हैं। जैसे इसमें अनुष्टुप के अतिरिक्त इन्द्रवज्रादि छन्द भी मिलते हैं।

दक्षस्मृति में कुल २०० श्लोक हैं। इनमें से ५३ हेमाद्रि, कुल्लूक, मिताक्षरा, वीरमित्रोदय इत्यादि निबन्धों में उद्धृत हैं। इसमें सतीप्रथा की प्रशंसा है।

संवर्तस्मृति में २२६ श्लोक हैं। इनमें से १६ मिताक्षरा तथा हेमाद्रि में उद्धृत हैं। पर अनेक वचन जो संवर्त के नाम से निबन्धों में लिखे हैं सो इन २२६ श्लोकों में नहीं पाये जाते। विवाहों में भी इस स्मृति में केवल ब्राह्मविवाह को माना है।

अत्रिस्मृति में ३६८ श्लोक हैं। इसमें आचार तथा प्रायश्चित्त का निरूपण अच्छा है। पर इनके नाम से जो वाक्य श्राद्ध प्रायश्चित्तादि के प्रसङ्ग निबन्धों में उद्धृत हैं सो इस उपलब्ध अत्रिस्मृति में नहीं पाये जाते।

शातातप में ३० अध्याय हैं। पातक, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक ये विषय इसमें प्रपञ्चित हैं। यह भी अपूर्ण मिलता है।

लिखित के नाम से जो स्मृति प्रसिद्ध है सो भी खण्डित है। और बहुत से निबन्ध में उद्धृत वाक्य इनके नाम के इस स्मृति में नहीं मिलते।

इसी तरह अङ्गिरस् की स्मृति में केवल प्रायश्चित्त ही निरूपित है। आपस्तम्ब के नाम की जो श्लोकमय स्मृति है उसमें भी केवल प्रायश्चित्त निरूपण पाया जाता है। वृद्धहारीतस्मृति बड़ी है—श्लोक संख्या २५८७। इसी श्रेणी में है 'वृद्धविष्णु' 'वृद्धगौतम'—श्लोकबद्ध शंखलिखित और पुलस्त्य। एक श्लोकबद्ध गौतमस्मृति भी है। इसमें १४ अध्याय हैं।

यह गौतम के धर्मसूत्र तथा पितृमेधसूत्र से सम्बद्ध है। इसी तरह श्लोक-बद्ध आपस्तम्ब नाम की भी एक स्मृति है। यह भी आपस्तम्बीय धर्मसूत्र से सम्बद्ध है।

अभी तक जिन स्मृतियों का विचार किया है वे सब एक ग्रन्थरूप से मिलते हैं। पर इनसे अधिक उपयोगी वे स्मृतियां हैं जिनके वचन जहां तहां प्रसिद्ध निबन्ध में पाये जाते हैं। सर्वत्र निबन्धों में जितने वचन एक नाम से उल्लिखित हैं उनका संग्रह कर कई अच्छी स्मृतियों का जीर्णोद्धार हुआ है। बृहस्पति तथा कात्यायन स्मृति इसी श्रेणी की हैं। इनकी प्रतियां खंडित भी अभी नहीं मिली हैं।

व्यवहार के विषय में कात्यायन तथा बृहस्पति की स्मृतियां बड़ी उपयोगी हैं।

बृहस्पति

बृहस्पति की स्मृति मनुस्मृति से सम्बद्ध है। व्यवहार के विषय में मनुस्मृति ही को अपना आदर्श मान कर जहां तहां मनु के वाक्यों की या सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। कहीं कहीं मनु का खंडन भी किया है। जैसे मनु का सिद्धान्त है कि "वस्त्र–वाहन–अलंकार इत्यादि का जिस किसी ने उपयोग किया हो वह उसीका रहेगा बांटा नहीं जायगा"। पर इसका खण्डन बृहस्पति ने किया है और इनके बांटने के उपाय और प्रकार भी बताये हैं। पर जहां खण्डन किया है तहां मनु का नाम नहीं लिया है। मनु के १८ विवाद पदों ही को इन्होंने भी रखा है, पर इनको दो भागों में विभक्त किया है–(१) धनसम्बन्धी (२) पातकसम्बन्धी (अर्थात् अदालत और फौजदारी)। ऋणदान के प्रकरण में मनुस्मृति में (८।४९) जो 'धर्मेण व्यवहारेण छलेन आचरितेन' चार ऋण वसूल करने के प्रकार कहे हैं उनके लक्षण बृहस्पति ही ने दिये हैं। नारद ने पत्नी का स्वामी के धन में अधिकार नहीं बतलाया है, पर बृहस्पति ने इस सिद्धान्त का उपन्यास किया है कि पत्नी पति का अर्ध अंग है इस लिये जब पुत्ररूप से पति ने जन्म नहीं लिया तो उसके धन पर अधिकार उस अर्धांगिनी का अवश्य होगा। स्थावर धन भी स्त्री-धन हो सकता है इस बात पर भी बृहस्पति ही ने जोर डाला है। नियोग का स्वीकार इन्होने नहीं किया है। सती की प्रथा को

विहित बतलाया है। नारद ने तीन प्रकार के 'प्रतिभू (जामिन) माना है, बृहस्पति ने ४। लिखित प्रमाण का निरूपण और स्मृतियों की अपेक्षा इसमें अधिक है। नारद की अपेक्षा बृहस्पति मनु से अधिक मिलते हैं। नारद की तरह बृहस्पति ने भी 'दीनार' का उल्लेख किया है। बृहस्पति स्मृति का समय ईसा के उत्तर छठवीं-सातवीं शताब्दी माना गया है। इस स्मृति में 'पारसीक' का उल्लेख पाया जाता है—इससे Persia देश का सम्बन्ध माना गया है। बृहस्पति ने स्नान-प्रकरण में वाजसनेयि संहिता के मन्त्र का प्रयोग लिखा है। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि ये यजुर्वेदी थे।

कात्यायन

कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के ऋषि हैं। यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र, श्राद्धकल्प तथा कातीयगृह्य इन्हींके हैं। कात्यायनस्मृति शब्द, अर्थ तथा विषय-विभाग में बृहस्पति स्मृति से बहुत मिलती जुलती है। कई श्लोक दोनों ही में पाये जाते हैं। 'धर्मेण व्यवहारेण' इत्यादि जो चार प्रकार व्यवहारनिर्णय के हैं सो दोनों में हैं। इन चारों के लक्षण भी दोनों में एकसां पाये जाते हैं। अर्थी के कर्तव्य के प्रसंग में बृहस्पति के वचन अधिक स्पष्ट हैं, पर प्रत्यर्थी के प्रसंग में कात्यायन ही के अच्छे हैं। इन्होंने 'उत्तर' के कई प्रकार बताये हैं। फिर बृहस्पति ने ऋणदान प्रकरण में 'सूद-मूल मिलाकर मूल से द्विगुण से अधिक नहीं हो सकता' इस नियम को सुवर्ण (रुपया, अशर्फी) ही के विषय में माना है। कात्यायन के अनुसार रत्न, मोती इत्यादि में भी यही नियम लगता है। प्रतिभूप्रकरण में कात्यायन ने अविश्वस्त प्रतिभू के कई भेद बताये हैं। तथा आसेध के विषय में भी बहुत से नियम लिखे हैं जो अन्य स्मृतियों में नहीं पाये जाते। दायप्रकरण में इन्होंने भी पत्नी का अधिकार माना है। पर कुछ नियमों के साथ। 'दीनार' की चर्चा इसमें भी है। मनु और नारद से भी इनका मत बहुत कुछ मिलता है। 'प्राड्विवाक', 'व्यवहार', 'अन्वाधि', 'वेतन', 'उत्कोच', 'सामन्त', 'वृद्धि', शौर्यधन', 'भार्याधन', विद्याधन', 'स्त्रीधन' ऐसे पारिभाषिक शब्दों के लक्षण जो कात्यायन ने लिखे हैं प्रायः प्राचीन स्मृतियों में

भी पाये जाते हैं। प्रमाणरूप से इन्होंने 'भृगु' 'मानवाः' तथा 'गौतमाः' का उल्लेख किया है। पर चोरी के विषय में 'मानवाः' तथा 'गौतमाः' के नाम से जो वाक्य हैं वे मनुस्मृति में या गौतमधर्मसूत्र में नहीं पाये जाते। इस स्मृति में ७०० श्लोक हैं। यह स्मृति बृहस्पतिस्मृति से प्राचीन, पर मनु, याज्ञवल्क्य, नारद से अर्वाचीन मानी गई है॥ कात्यायन के बहुत से वाक्य ऐसे हैं जो अक्षरशः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी पाये जाते हैं।

कात्यायनस्मृति के आचार तथा प्रायश्चित्त प्रकरण के कम ही वाक्य निबन्धों में मिलते हैं। पर व्यवहारप्रकरण के वाक्य बहुत उल्लिखित हैं। इन्हीं उल्लेखों के आधार पर कात्यायनस्मृति का संग्रह लोगों ने किया है। इन संग्रहों से ऐसा भासित होता है कि कात्यायन की जो सम्पूर्ण स्मृति मिलेगी तो व्यवहार के विषय में अद्वितीय पायी जायगी। ऐसी सर्वांगपरिपूर्ण स्मृति दूसरी नहीं पाई जाती। व्यवहार के प्रायः सभी अंगों में जैसे सूक्ष्म विचार इस स्मृति में हैं वैसे और किसीमें नहीं।

व्यासस्मृति के २०० श्लोक निबन्धों में पाये जाते हैं। इनके सिद्धान्त नारद, बृहस्पति, कात्यायन से मिलते हैं। प्राड्विवाक पद की व्युत्पत्ति इसीमें पाई जाती है—पृच्छति विवेचयति चेति। चार प्रकार के 'उत्तर' आठ प्रकार के 'निर्णय' इसमें वर्णित हैं। ऋणप्रकरण में सात प्रकार के प्रतिभू इसमें वर्णित हैं। इस स्मृति में भी सती-प्रथा की बहुत प्रशंसा है; इसी कारण से यह भी नवीन समझी गयी है।

पितामह के भी २०० श्लोक निबन्धों में पाये जाते हैं। दिव्यों के वर्णन सबसे अधिक इसीमें मिलते हैं। बृहस्पति ने इनको दिव्य के विषय में विशेष प्रमाण माना है। इससे यह भान होता है कि बृहस्पति से यह प्राचीन हैं, परन्तु विद्वानों ने ऐसा नहीं माना है।

हारीत के छन्दोबद्ध श्लोक निबन्धों में कुल ५० उद्धृत हैं। व्यवहार के विषय में इनके भी विचार कात्यायन के ऐसे सूक्ष्म हैं।

इनके अतिरिक्त कई वाक्य निबन्धों में कहीं कहीं बिना नाम निर्देश के "स्मृत्यन्तर" कह कर उल्लिखित पाये जाते हैं।

इतिहास-पुराण

महाभारत एक तरह से सर्वशास्त्र-संग्रह है। धर्म्मशास्त्र-विषयक श्लोक भी इसमें हजारों पाये जाते हैं। कुमारिल ने धर्म के विषय में महाभारत को मनुस्मृति के समान प्रमाण माना है। बाण के कादम्बरी में, और ५वीं, छठवीं और ७वीं शताब्दी के शिलालेखों में रामायण और महाभारत के श्लोकों का उल्लेख है। रामायण का समय लोगों ने ईसा के पहिले ८वीं शताब्दी स्थिर किया है। मनुस्मृति के कई सौ श्लोक ऐसे हैं जो महाभारत में भी हैं।

महाभारत से भी अधिक प्रभाव सामान्य जनता के आचार पर पुराणों का पड़ा है। हेमाद्रि का ग्रन्थ—विशेषतः आचारखण्ड—पुराणों ही पर निर्भर है। धर्मसूत्रों में भी पुराणों को धर्म का मूल माना है। आपस्तम्ब ने भविष्य पुराण का विशेष करके सहारा लिया है। पुराणों का प्रायः आधुनिक विद्वान् तिरस्कार ही करते आये हैं, पर अब धीरे धीरे कुछ लोगों की मति बदलने लगी है और यहां तक अब लोग स्वीकार करते हैं कि पुराण एकदम कपोलकल्पित निस्सार नहीं हैं, इनसे भी हमलोगों को देश की प्राचीन स्थिति का जो पता लगता है उतना प्रायः और किसी ग्रन्थ से नहीं। पुराणों और स्मृतियों के विषय में बहुत कुछ मेल है। विष्णुधर्मोत्तर का विष्णुस्मृति से, कूर्मपुराण का औशनस स्मृति से, गरुड़पुराण और अग्निपुराण का याज्ञवल्क्य से। यहां तक कि व्यवहाराध्याय के सब श्लोक अग्निपुराण में हैं और आचार और प्रायश्चित्ताध्याय के सब श्लोक गरुड़पुराण में। भविष्यपुराण के बहुत से श्लोक मनुस्मृति के पहिले तीन अध्याय में पाये जाते हैं। लघुहारीतस्मृति समस्त नरसिंहपुराण में है। ऐसा होते हुए भी व्यवहार के विषय में पुराणों का उतना प्रामाण्य नहीं माना गया है जितना आचार के विषय में।

स्मृतियों की टिकाएं

ईसा के उत्तर चौथी पांचवीं शताब्दी में प्रायः स्मृतियों का बनना बन्द हो गया और उसके बाद प्राचीन स्मृतियों पर टीका टिप्पणी होने

लगी और स्मृतियों के परस्पर विरोध-परिहार का यत्न मीमांसा के द्वारा होने लगा। अब तक जहां तक पता चला है इन टीकाओं में सबसे प्राचीन नाम असहाय का पाया जाता है जिन्होंने नारदस्मृति पर टीका लिखी थी।

स्मृतियों में सबसे अधिक टीकाटिप्पणी मनुस्मृति की हुई है। इनमें सबसे प्राचीन मेधातिथि का मनुभाष्य है जो नवीं शताब्दी में लिखा गया। दूसरी टीका मेधातिथि के बाद गोविन्दराजकृत मनुटीका है। इसमें मेधातिथि की तरह शास्त्रार्थ नहीं है, केवल मूल का अर्थ स्पष्ट रूप से किया है। यह बारहवीं शताब्दी में लिखी गयी। इसके बाद सर्वज्ञनारायण की मन्वर्थवृत्ति (चौदहवींशताब्दी) कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली (पन्द्रहवीं शताब्दी)। गोविन्दराज की टीका जब से मिली है तब से कुल्लूकभट्ट का पोल खुल गया है—क्योंकि इनकी टीका अधिकांश गोविन्दराजही के ग्रन्थ से उद्धृत है। कुल्लूक के बाद राघवनन्द की मन्वर्थचन्द्रिका और नन्दनाचार्य्य की नन्दनी और रामचन्द्रकृत मनुभावार्थचन्द्रिका—ये सब टीकायें तो छप गयी हैं। इनके अतिरिक्त कृष्णनाथ, रुचिदत्त तथा मणिरामदीक्षित—असहाय, विष्णुस्वामी, भारुचि, उदयकर, विश्वरूप, भोजराज, धरणीधर, श्रीधर, माधवाचार्य—इनकी की हुई भी मनुटीका की सूचना मिलती है। इनमें असहाय और विष्णुस्वामी नवीं शताब्दी के पहिले के हैं।

मनु के बाद टीकाटिप्पणी की संख्या औरों की अपेक्षा अधिक याज्ञवल्क्य की मिलती है। इन टीकाओं में सब से प्राचीन प्रायः विश्वरूपाचार्य की है, जिनका समय नवीं शताब्दी के पहिले माना गया है। ये मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर के गुरु थे ऐसा कहा गया है। यह ट्रेवेंकोर में छपगई है। पर सबसे प्रसिद्ध टीका विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा है। कोलब्रुक साहब के प्रसाद से यह निबन्ध अब सारा भारतवर्ष का धर्मशास्त्र हो रहा है। दक्षिण भारत में कल्याण के चालुक्यवंशीय राजा विक्रमाङ्क के समय ११–१२ शताब्दी में यह ग्रन्थ लिखा गया। इस मिताक्षरा की कई टीकाएं हैं। हलायुध, मधुसूदनगोस्वामी, मुकुन्दलाल तथा नन्दपंडित की टीकाएं अभी तक मिली नहीं, केवल पुस्तक-सूचियों में नाम पाये जाते हैं। विश्वेश्वर कृत सुबोधिनी जो संक्षिप्तटिप्पणी रूप

में है, १४ शताब्दी में लिखी गयी अब छप भी गयी है। सबसे अच्छी टीका जो मिली है सो 'बालम्भट्टी के नाम से प्रसिद्ध है। कोलब्रुक साहेब से लब्धजीविक लक्ष्मीदेवी के पुत्र बालम्भट्ट पायगुंडे ने इसे काशी में ईसवी १७५०–१७८२ में लिखा। इसका व्यवहाराध्याय सम्पूर्ण तथा और अध्यायों के कुछ अंश छप गये हैं।

मिताक्षरा के अतिरिक्त एक टीका याज्ञवल्क्य स्मृति की 'अपरार्क' नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता कोकण देश के राजा अपरादित्य हैं। यह १२ शताब्दी में लिखी गई। यह पूना में छप गई है।

तीसरी टीका याज्ञवल्क्य की मित्रमिश्र की वीरमित्रोदयनाम से प्रसिद्ध है। यह १७ शताब्दी में ओरछाराजधानी में लिखी गई। बहुत दिन तक विद्वानों को यह भ्रम था कि वीरमित्रोदय नाम का जो महानिबन्ध है उसीको लोगों ने याज्ञवल्क्यटीका समझ रखा है। पर अब मेरे प्रातःस्मरणीय मित्र बाबू गोविन्ददास के परिश्रमद्वारा शुद्ध याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका वीरमित्रोदय नाम की काशी में छप रही है।

एक और टीका याज्ञवल्क्य की शूलपाणिकृत दीपकलिका है। यह प्रायः १२ शताब्दी में लिखी गई।

आपस्तम्ब और गोतम की टीका हरदत्तमिश्र कृत मिलती है। इनका समय १३ शताब्दी में मानागया है।

पराशरस्मृति की व्याख्या माधवाचार्य–विद्यारण्य की है। पर यह नाम की टीका है। यह असल में एक स्वतन्त्र महानिबन्ध है। यह विजय-नगरराज्य में १४ शताब्दी में लिखी गई। यह छप गई है।

पराशर की टीका एक नन्दपंडित ने भी १७ शताब्दी में लिखी। इन्होंने एक टीका 'वैजयन्ती' नाम की विष्णुस्मृति पर भी लिखी।

नारदस्मृति का भाष्य असहाय ने लिखा। असहाय का उल्लेख मेधातिथि में है। इस भाष्य की पुस्तक नहीं मिलती। जो मिलती है सो कल्याणभट्टकृत इसका जीर्णोद्धार है।

बैाधायनधर्मसूत्र की टीका गोविन्दस्वामीकृत मिलती है। इसको लोग नवीन कहते हैं।

कात्यायनस्मृति जो कर्मप्रदीप के नाम से प्रसिद्ध है उस पर आशा की-या आशादित्य-की टीका है। इसके अंश कहीं कहीं छपे हैं। यह १७ शताब्दी से पहले लिखी गई।

वसिष्ठधर्मशास्त्र पर कृष्णपंडित की टीका १८७० ईसवी में लिखी गई।

निबन्ध

अनन्त स्मृतियां, उनकी अनन्त टीका-टिप्पणी के बन जाने से सिद्धान्तों के प्रसंग में सन्देह बढता ही गया। तब विद्वान् लोग नाना श्रुतिस्मृति उनकी व्याख्या—तथा मीमांसाधिकरणों की सहायता से शास्त्र-सिद्धांततत्त्व को निकालने का प्रयत्न करने लगे। मेधातिथि-मिताक्षरादि टीका में भी ऐसा प्रयत्न पाया जाता है। पर इनमें अपने मूलग्रन्थों के विषय से नियमित होने के कारण वह स्वातंत्र्य नहीं हो सकता था जिससे शास्त्र समुद्र का मथन सम्यक् प्रकार हो सके। इन्ही कारणों से स्वतंत्र निबन्ध बनने लगे।

(१) सबसे प्राचीन सर्वांगपरिपूर्ण निबन्ध जो उपलब्ध है वह है लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु। लक्ष्मीधर कन्नौज के प्रसिद्ध राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री थे। गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल ई० ११०५—११४३ माना गया है। कृत्यकल्पतरु के १२ खंड हैं। श्राद्ध, दान, प्रतिष्ठा, तीर्थ, शुद्धि, राजधर्म, व्यवहार इत्यादि। लक्ष्मीधर के ग्रन्थ का उल्लेख हेमाद्रि मे है और इन्होंने मेधातिथि का उल्लेख किया है।

(२) लक्ष्मीधर के लगभग समकलीन हलादुध हुए जिनके रचे 'सर्वस्व' हैं—ब्राह्मणसर्वस्व, मीमांसासर्वस्व इत्यादि। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के ये धर्माध्यक्ष थे। लक्ष्मणसेन का राज्याभिषेक ई० १११९ में हुआ था।

(३) लक्ष्मणसेन के पिता राजा वल्लालसेन थे। इनके नाम से प्रसिद्ध एक ग्रन्थ 'दानसागर' नाम का है। यह ग्रन्थ अनिरुद्ध की सहायता से ई० १०९१ में लिखा गया। यह एक प्रकार का खंडग्रन्थ है इस लिये इसे पूर्णधर्म्मशास्त्रनिबन्ध नहीं कह सकते।

(४) दक्षिण में अभिलषितार्थचिन्तामणि को—मानसोल्लास जिसका दूसरा नाम है—चालुक्य राजा सोमेश्वर देव ने ई० ११२७-११३८ में रचा। यह भी एक महानिबन्ध है जिसमें गृहनिर्माण, राजनीति, सौख्य इत्यादि प्रकरण हैं।

(५) देवन भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका के ५ अध्याय हैं— संस्कार, आह्निक, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, व्यवहार। इसमें विश्वरूप, अपरार्क तथा मिताक्षरा का उल्लेख है, और इसका उल्लेख हेमाद्रि में है। इससे यह ई० १२०० में लिखी गई है ऐसा भान होता है। इसका मान केवल दक्षिण में नहीं है—उत्तर भारत में भी था। वीरमित्रोदय में इसका उल्लेख पाया जाता है। यह छप गई है।

(६) हेमाद्रि में श्रीधरकृत स्मृत्यर्थसार का उल्लेख पाया जाता है। इसमें कल्पतरु का उल्लेख है। इससे यह भी ई० १२०० के लगभग लिखा गया होगा।

(७) मनु पर जिनकी टीका है उन्हीं गोविन्दराज की रची एक स्मृतिमञ्जरी है। इसका उल्लेख इन्होंने अपनी मनुटीका में किया है।

(८) १३ शताब्दी में महानिबन्ध चतुर्वर्गचिन्तामणि नाम का हेमाद्रि ने लिखा। इसका समय ई० १२६०-१३०६ माना गया है। इसके ५ खण्ड हैं—व्रत, दान, तीर्थ, मोक्ष, परिशेष। आश्चर्य है कि इतने बड़े निबन्ध में व्यवहार खण्ड न हो। सम्भव है जैसे श्राद्धखण्ड परिशेष खण्ड में है उसी तरह उसी खण्ड में व्यवहार खण्ड भी हो। हेमाद्रि देवगिरि के यादववंशी राजाओं के मन्त्री थे।

(९) ई० १२३० में हमारे कविपण्डित विद्यापति ने दण्डनीति, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरङ्गिणी इत्यादि धर्मविषयक ग्रन्थ लिखे। पर कोई पूर्ण निबन्ध इन्होंने नहीं लिखा।

(१०) १४ शताब्दी में मिथिला में कइ विलक्षण निबन्ध लिखे गये। वैसे तो याज्ञवल्क्य भी मैथिल थे ही—कृत्यकल्पतरुकार लक्ष्मीधर और ब्राह्मणसर्वस्वकार हलायुध भी मैथिल थे ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये देशान्तरीय राजाओं के आश्रित थे। १४ शताब्दी के ग्रन्थ मिथिला ही के राजाओं के मन्त्रियों के लिखे हुए निबन्ध मिलते हैं। इन ग्रन्थों के प्रसंग में

Professor Jolly ने लिखा है—"The fourteenth century is the period of the bloom of the School of Mithila, so serviceable to the development of real jurisprudence around which the traditions that existed in this land from the time of Yājnāvalkya could cluster".

इनमें सबसे प्राचीन रत्नाकर है। इसके रचयिता हैं मिथिलेश राजा हरिसिंहदेव के मन्त्री महासान्धिविग्रहिक चण्डेश्वर। इस महानिबन्ध के सात खण्ड हैं—कृत्यरत्नाकर, दानरत्नाकर, व्यवहाररत्नाकर, शुद्धिरत्नाकर, पूजारत्नाकर, विवादरत्नाकर, गृहस्थरत्नाकर। इनके अतिरिक्त इन्हींका रचा हुआ राजनीतिरत्नाकर और एक ज्योतिषग्रन्थ कृत्यचिन्तामणि नाम का भी मिथिला में प्रसिद्ध है। इन्होंने ई० १३१४ में स्वर्णतुलादान वाग्वती नदी के तट पर किया ऐसा विवादरत्नाकर के अन्त में लिखा है। विवादरत्नाकर में अठारहों विवादपदों का विवरण है। व्यवहार-मातृका इसमें नहीं है। इसी एक विषय पर एक सम्पूर्ण ग्रन्थ स्वतन्त्र ही व्यवहाररत्नाकर होगा ऐसा भान होता है। जिन लोगों ने विवादरत्नाकर का अवलोकन किया है वे व्यवहाररत्नाकर में व्यवहारमातृका के हृदयग्राही विषयों के विचार को देखने के लिये लालायित हो रहे हैं। आशा है पुस्तकों की खोज से यह ग्रन्थ शीघ्र मिल जायगा।

(११) लगभग इसी समय में—५० वर्ष उत्तर लखिमादेवी की आज्ञा से मिसरूमिश्र ने विवादचन्द्र लिखा।

(१२) रत्नाकर के जोड़ का ही—यद्यपि उतना विशद नहीं—दूसरा मैथिल निबन्ध चिन्तामणि है। इसके रचयिता हैं वाचस्पतिमिश्र। पर ये दार्शनिक शिरोमणि भामतीकार वाचस्पति नहीं हैं। ये मिथिला में 'अभिनववाचस्पति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिथिला के राजा हरिनारायण के ये सभापण्डित थे। इनका समय १४ शताब्दी का अन्त या १५ शताब्दी का आरम्भ है। इस निबन्ध के प्रधान खण्ड हैं—श्राद्धचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि, नीतिचिन्तामणि, प्रायश्चित्तचिन्तामणि, विवादचिन्तामणि, व्यवहारचिन्तामणि। 'कृत्यचिन्तामणि' जो मिथिला

में चण्डेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है सम्भव है इन्हींका हो। द्वैतनिर्णय भी इन्हींका कहा जाता है।

इन धर्मशास्त्रों की परम्परा मिथिला में बहुत दिन तक चली आई है। वाचस्पतिमिश्र के पौत्र केशवमिश्र का द्वैतपरिशिष्ट—वर्धमान के विवेक (स्मृति विवेक, नीतिविवेक, दण्डविवेक इत्यादि)-देवनाथठाकुर की कौमुदी (स्मृतिकौमुदी, मंत्रकौमुदी, तन्त्रकौमुदी, अधिकरणकौमुदी इत्यादि) हरिनाथ उपाध्यायकृत स्मृतिसार—स्मृतिसारोद्धार—नरहरि उपाध्याय का कण्टकोद्धार, शूलपाणिकृत स्मृतिविवेक भवानन्दकृत दण्ड-नीति, इत्यादि।

इनमें स्मृतिसार वाचस्पति मिश्र से प्राचीन है। विवादचिन्तामणि में इसका उल्लेख है।

(१३) वाचस्पतिमिश्र के समकाल ही में (ई० १३६०-१३९०) विश्वेश्वर ने मदनपारिजात बनाया। ये दिल्ली के प्रान्त के राजा मदनपाल के सभापंडित थे। इस ग्रन्थ में ९ स्तवक हैं। व्यवहार का केवल दायभाग का विषय इसमें है। हेमाद्रि, अपरार्क, कल्पतरु, स्मृत्यर्थसार, मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, इनका उल्लेख इसमें है। इनके रचे और भी ग्रन्थ हैं—महार्णव (कर्मविपाक), स्मृतिकौमुदी (शूद्रधर्म), मदनविनोद (वैद्यक), कालनिर्णय।

(१४) १५ शताब्दी का सबसे प्रधान ग्रन्थ है जीमूतवाहनकृत धर्मरत्न। जिसका एक खंड 'जीमूतवाहनदायभाग' के नाम से प्रसिद्ध होरहा है। Bengal School का यही प्रधान निबन्ध माना गया है। इसके समय का ठीक निर्णय नहीं होसका है। पर यदि इसके टीकाकार के ऊपर विश्वास करके—इनके ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र के मत का खंडन है—ऐसा माना जाय तो १४ शताब्दी के पीछे इनका समय मानना होगा। १६ शताब्दी के रघुनन्दन ने इनका उल्लेख किया है। इन्हीं कारणों से इनका समय १५ शताब्दी माना गाया है।

(१५) १५ शताब्दी के आरम्भ ही मे प्रयोगपारिजात लिखा गया। इसके रचयिता हैं नृसिंह। इसकी एक पुस्तक ई० १४३७ से पहले की लिखी मिली है—पर इन्होंने पराशरमाधव का उल्लेख किया है। इसीसे इनका समय १५ शताब्दी का आरम्भ माना गया है। इनके पुत्र ने

ई० १४५० में कालनिर्णयदीपिका नामक ग्रन्थ लिखा। इससे भी इनका समय प्रमाणित होता है।

(१६) मदनरत्न-प्रदीप—या मदनरत्न—सात उद्योतों में विभक्त एक बड़ा निबन्ध है। इसमें माधवाचार्य का उल्लेख है। १७ शताब्दी के ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। इससे मदनरत्न का समय १४५० के लगभग माना गया है। ये मदन मदनपारिजातवाले मदनपाल नहीं हैं।

(१७) दलपतिकृत नृसिंहप्रसाद १२ सारों मे विभक्त एक बड़ा निबन्ध है। इन्होंने अपनेको निजामशाह का 'साम्राज्यधुरन्धरमहीपति' लिखा है। यह निजामशाह प्रायः अहमदनगरवाले हैं जिनका राज्यकाल ई० १४८६–१५०८ है।

(१८) सोलहवीं शताब्दी में सबसे प्रधान निबन्धकार रघुनंन्दनभट्टाचार्य हुए हैं। इनका प्रधान ग्रन्थ स्मृतितत्व है। इसमें २८ खण्ड हैं। अपने ज्योतिषतत्व में इन्होंने १४९८ साल की चर्चा की है और यह चैतन्य के समकाल थे। इसीसे इनका समय सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है।

(१६) चैतन्य के समकाल उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव हुए हैं। (१५०३–१५२४)। इनका निबन्ध सरस्वतीविलास नाम का सर्वाङ्ग-परिपूर्ण है। इसका व्यवहारखण्ड छप गया है। इसका दक्षिण भारत में बड़ा मान है।

(२०) ऐसाही प्रसिद्ध एक दूसरा निबन्ध टोडरानन्द है, जो अकबर के मन्त्री टोडरमल कि आज्ञा से लिखा गया। इसके भिन्न भिन्न खण्डों का नाम 'सौख्य' है। व्यवहारसौख्य की एक पोथी १५८१ में लिखी हुई मिली है और व्रतसौख्य की पोथी १५८३ में। टोडरानन्द के वाक्यों का उल्लेख व्यवहारमयूख तथा शूद्रकमलाकर मे पाया जाता है।

(२१) नारायणभट्ट का प्रयोगरत्न १५३५–१५५६ में लिखा गया। बंबई प्रान्त में गृहाचार के विषय में यह अब तक भी प्रमाण माना जाता है।

(२२) नारायणभट्ट के पुत्र शंकरभट्ट ने धर्मद्वैतनिर्णय नामक ग्रन्थ लिखा जिसका समय सोलहवीं शताब्दी का अन्त माना गया है। शङ्करभट्ट

ने मीमांसा के भी कई ग्रन्थ लिखे जिनमें मीमांसाबालप्रकाश और शास्त्रदीपिकाटीका प्रसिद्ध हैं।

(२३) शंकरभट्ट के भाई रामकृष्णभट्ट ने भी एक धर्मशास्त्र ग्रथ लिखा।

(२४) सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में नन्दपण्डित ने काशी में दत्तक-मीमांसा लिखा।

(२५) सत्रहवीं ही शताब्दी में नीलकण्ठ ने अपना धर्मशास्त्रनिबन्ध भगवन्तभास्कर नाम का लिखा। इसके बारह खण्ड 'मयूख' के नाम से प्रसिद्ध हैं। संयुक्तप्रान्त में यमुना और चम्बल के सङ्गम पर भरेहा के राजपूत राजा भगवन्त देव की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा गया।

(२६) नीलकण्ठ के पुत्र भानुभट्ट ने अपने पितामह के द्वैतनिर्णय का सारांश रूप द्वैतनिर्णय-सिद्धान्त-संग्रह लिखा।

(२७) इसी शताब्दी के अन्त में नीलकण्ठ के दौहित्र दिवाकर ने धर्मशास्त्र-सुधानिधि नाम का निबन्ध लिखा।

(२८) नीलकण्ठ के चचेरे भाई कमलाकर थे। जिन्होंने निर्णयसिन्धु, धर्मतत्त्व (जिसका एक खण्ड शूद्रकमलाकर है) और विवादताण्डव लिखा। इनके ग्रन्थों में जीमूतवाहन के मतों का खण्डन पाया जाता है और इनके ग्रन्थ महाराष्ट्र देशमें सबसे अधिक प्रामाणिक समझे जाते हैं।

(२९) कमलाकर के बड़े भाई दिनकर ने कर्मविपाकसार लिखा। दूसरा ग्रन्थ इनका दिनकरोद्योत है। इसके व्यवहारखण्ड में लिखा हुआ है कि इस ग्रन्थ को दिनकर के पुत्र विश्वेश्वर या गागाभट्ट ने औरङ्गजेब के समय में पूरा किया।

(३०) कमलाकर के एक छोटे भाई लक्ष्मण ने एक ग्रन्थ आचार-सार और उनके पुत्र अनन्त भट्ट ने रागकल्पद्रुम लिखा।

(३१) इसी वंश के कन्याकुल में एक दूसरे दिवाकर हुए जिन्होंने दानचन्द्रिका लिखी। दूसरे रामचन्द्र ने कृत्यरत्नावली लिखी।

(३२) इसी शताब्दी में अकबर—जहांगीर के समय में मित्रमिश्र हुए; जो ओरछा के राजा वीरसिंहदेव के सभापण्डित थे। इनके द्वारा अनेक पंडितों ने सकलशास्त्र-निबन्ध वीरमित्रोदय नाम का लिखा। इन्होंने

जीमूतवाहन के मत का जहां तहां खण्डन किया है। वीरसिंहदेव के छोटे भाई को समर्पित एक ग्रन्थ मित्र-मिश्र ने १६३५ में लिखा।

(३३) सत्रहवीं शताब्दी के और धर्मशास्त्र ग्रन्थ ये हैं:—

वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल, रघुनाथ का गोत्रप्रवरनिर्णय और कालतत्वविवेचन, अनन्त का विधानपारिजात, जहांगीर और शाहजहां के समकालीन राजा कृपाराम का लिखाया हुआ रामप्रकाश, रघुनाथसूरि का प्रयोगतत्व, भट्टोजी दीक्षित का कालनिर्णय, तिथिनिर्णय इत्यादि, रघुनाथ का स्मार्त्तव्यवस्थार्णव, बाजबहादुर के सभापण्डित अनन्तदेव का स्मृति-कौस्तुभ।

अठारहवीं शताब्दी में १७१३ में मथुरा के महाराज जयसिंह के सभा-पण्डित रत्नाकर ने जयसिंहकल्पद्रुम लिखा। और ग्रन्थ इस शताब्दी के यों हैं:—श्रीकृष्णतर्कालङ्कार का दायक्रमसंग्रह, नानादेशनिवासी बारह पण्डितों का लिखा हुआ विवादार्णवभञ्जन, वारेन हेस्टिंग्ज़ के उद्योग से १७७३—१७७५ में ग्यारह पण्डितों की एक समिति ने कलकत्ते में एक संग्रह विवादार्णवसेतु नाम का लिखा। इसके उपोद्घात से यह ज्ञात होता है कि इसमें अधिकांश जीमूतवाहन ही के मत का अनुसरण किया गया। इसी तरह १७८६ में Sir William Jones ने विवाद-सारार्णव और जगन्नाथ का विवादभङ्गार्णव लिखवाया और इसी शताब्दी के अन्त में Colebrooke ने धर्मशास्त्रसंग्रह, सिद्धान्तपीयूष, मिताक्षराटीका बालम्भटी लिखवाया।

उन्नीसवीं शताब्दी में मैथिल पण्डित हर्षनाथ झा ने संस्कारदीपक तथा चातुश्चरणतड़ागोत्सर्ग-पद्धति और पण्डित हलधर झा (हल्ली झा) ने वर्षकृत्य लिखा। ये तीनों ग्रन्थ दरभङ्गा के महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह की आज्ञा से लिखे गए। महाराज की इच्छा एक सर्वाङ्गपरिपूर्ण निबन्ध लिख-वाने की थी और धर्मशास्त्र के भिन्न भिन्न खण्डों को भिन्न भिन्न पण्डितों को बाँट भी दिया था, पर उक्त दो पण्डितों को छोड़ कर और किसीने कुछ नहीं लिखा। इस बात का दुःख महाराज को अन्त तक रहा।

इसके अतिरिक्त कश्मीर में महाराज रणवीरसिंह ने एक रणवीर-महानिबन्ध लिखवाया। जो प्रायः आज कल उस देश में माना जाता है।

अध्याय (३)

व्यवहारमातृका

(व्यवहारनिर्णय का प्रकार)

सभा

जहां विवादों का निर्णय होता है उसे 'सभा' कहते हैं; जिसे आज हम Court या कचहरी कहते हैं। सभा वह है जहां तीन वेद के जाननेवाले ब्राह्मणों के सहित राजा के नियुक्त किये हुए एक विद्वान् ब्राह्मण बैठें। (मनु० ८–११)

अर्थशास्त्र में कहा है कि हरएक प्रान्त की सीमा पर और हरएक ज़िला के केन्द्र में तीन धार्मिक सज्जनों की सभा बैठेगी।

सभागृह (कचहरी का मकान) किला के भीतर होना चाहिये और सब मकानों से अलग रहे, राजभवन के पूरब ओर–पूर्वाभिमुख। बैठने के आसन, फूल की मालायें, धूप, अन्न-फल-फूल के बीज, रत्न, लेख, देवताओं की मूर्ति, अग्नि और जल–ये सब चीजें वहां रक्खी हों। (बृहस्पति)

राजा प्रातःकाल में अपना नित्य कर्म करने के बाद–गुरु, ज्योतिषी, वैद्य, देवता, ब्राह्मण और पुरोहितों की फूल और आभूषणों से पूजा करके सभा में प्रवेश करें। कचहरी का समय साढ़े सात बजे सबेरे से लेकर दोपहर बारह बजे तक होना चाहिये। महीने के आठवें, चौदहवें, पन्द्रहवें तेइसवें, और तीसवें दिन सभा की बैठक नहीं होगी।

सभा चार तरह की होगी–१–प्रतिष्ठित सभा–अर्थात् एक निश्चितस्थान में बैठने वाली। २–अप्रतिष्ठित सभा–जिसकी बैठक एक नियत स्थान में नहीं होती।–आवश्यकतानुसार प्रान्त प्रान्त या गांव गांव जाकर इस सभा की बैठक होती है। ३–मुद्रित सभा–अर्थात् जिसका प्रधान एकही निर्णायक या जज हो। ४–शास्त्रिता सभा—जिसमें प्रधान के स्थान पर स्वयं राजा बैठें। (पराशरमाधव—पृष्ठ १८)

इन राजसम्बन्धी सभाओं के अतिरिक्त कुछ कौलिक या सामाजिक सभायें—पञ्चायतें—भी होती थीं–जहां बनवासियों के झगड़े बनवासियों के द्वारा, व्यापारियो के झगड़े व्यापारियों के द्वारा, सिपाहियों के झगड़े

सियास्यों के द्वारा, और ग्रामवासियें के भ्रमके ग्रामवासियों के द्वारा ते किये जाते थे। (पराशरमाधव—पृष्ठ १६)

सभा में इनका होना आवश्यक है—१. राजा २ प्राड्विवाक (जज) ३. सभासद—assessor ४. स्मृति, घोषक अर्थात् सभा के किये हुए निर्णयें का उद्घोष करनेवाला Proclaimer या Herald—५ गणक-हिसाब लगानेवाला, ६-लेखक, ७-सोना,८-आग, ९-जल,१०-स्वपुरुष (सांध्यपाल) Bailiff या Police officer, मुद्दई मुद्दालह और गवाहों का बुलानेवाला।

सभा मैं पश्चिम ओर पूर्वाभिमुख होकर राजा-उसके आगे दाहिनी ओरAssessor, वायीं ओर लेखक, उसके आगे राजा के सम्मुख गणक बैठें।

राजा सभा का नियन्ता है—ऐसा बृहस्पति ने कहा है। मनु (८. १) की आज्ञा है कि जब राजा व्यवहार अर्थात् किसी मामले की जांच करना चाहें तो ब्राह्मण और मन्त्रियों के साथ विनीत भाव से सभा अर्थात् कचहरी में प्रवेश करें। इस पर मेधातिथि का कहना है कि राजा के साथ ऐसे ही ब्राह्मणों को प्रवेश करना चाहिये जो मन्त्रज्ञ हों। यहां मन्त्र शब्द का अर्थ 'वेद' और 'विचार' दोनों हो सकता है। मेधातिथि का यह भी कहना है कि जितने ऐसे मामले हों जिसमें दण्ड देने की सम्भावना है उन सबको राजा स्वयं देखें। और मामलों के प्रसङ्ग में सबसे उत्तम निर्णायक स्वयं राजा हैं, उनके नीचे तीन सभासद सहित प्राड्विवाक, इनके नीचे जाति, श्रेणी, कुल ग्रामीण तथा नागरिक (नारद १. ८)। दण्डदेना राजा ही का काम है, पर दोष का निर्णय करना और लोगों का। याज्ञवल्क्य (२. ३) की आज्ञा है कि यदि कार्य्यान्तर में लगे होने के कारण राजा को स्वयं अवकाश न हो तो मामला जांचने के लिए वह एक प्राड्विवाक को नियुक्त करें जो सभासदों की मदद से व्यवहारों की जांच करेंगे। ये सब, Judge तथा assessor धर्मशास्त्र के जाननेवाले होने चाहिये। पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है-और लोगों का सिद्धान्त है कि यदि राजा स्वयं भी व्यवहारों की जांच करे ते भी उनको अपने पास एक धर्मशास्त्र जाननेवाले जज को रखना चाहिये। मुद्दई, मुद्दालह, तथा गवाहियों को पूछना तथा विवाद के सारांश का विवरण करना जज का काम है-इसीसे इनका पारिभाषिक नाम प्राड्विवाक है

(ऐसा नारद ने कहाहै) जज ऐसे ही आदमी हो सकते हैं जो व्यवहार के कार्य्यक्रम को भली भांति जानते हों, वेद और स्मृतियों में निपुण तथा तर्कविशास्त्रों में निष्णात हों (नारद) तथा अक्रूर, मधुर स्वभाव, कुलपरम्परागत, चतुर, उत्साही, निर्लोभ। मेधातिथि का कहना है कि उनको धर्मशास्त्र में भी निपुण होना चाहिये, जिससे उनके चित्त पर रागद्वेष का प्रभाव नहीं पड़ने पावे। जब तक मामला पेश है—तब तक जज को दोनोंमें से किसी विवादी के साथ एकान्त में बातचीत नहीं करना चाहिये। यदि वह करें तो उनको जुर्माना देना पड़ेगा।

सभासद तीन पांच या सात होगें (बृहस्पति)। मनु ने तीन ही कहा है, पर मेधातिथि के अनुसार यह संख्या वह है जिससे कम assessor नही हो सकते। जो आदमी देशाचार नहीं जानता है, जो नास्तिक है मूर्ख है या लोभी है सो सभासद नहीं हो सकता। मुकद्दमा का तहकीकात करना सभासदों ही का काम है। सभासदों को राजा नियुक्त करेंगे, किसीको सभासद बनने का स्वयं अधिकार नहीं है। सभासद ऐसे ही लोग हो सकते हैं जो विद्वान हैं अर्थात् अङ्ग सहित वेद तथा वेद के अर्थ को समझने के लिये मीमांसा शास्त्र जानते हों, कर्तव्याकर्तव्य तथा धर्मशास्त्र का ज्ञान हो, सत्यवादी और रागद्वेषादि दोष से रहित होने के कारण राजा को निष्पक्षपात राय दे सकते हों (मनु. ८. १० या० २. २)। सभासद ब्राह्मण ही हो सकते हैं। पर यदि उक्त गुणवाले ब्राह्मण न मिल सकें तो उक्त गुणसम्पन्न क्षत्रियों को भी राजा सभासद बना सकते हैं—क्षत्रिय न मिले तो वैश्य को, पर उक्त गुणों का होना आवश्यक है (कात्यायन)। राजा को धर्मशास्त्र बतलानेवाला ब्राह्मण ही हो सकता है, शूद्र कभी भी नहीं (मनु ८. २०)। इस पर मेधातिथि लिखते हैं कि यद्यपि कुछ कुछ धर्मशास्त्र सीख कर शूद्र भी विचारक तथा दंड का प्रयोग करनेवाला हो सकता है तथापि उसको यह अधिकार नहीं है कि किसी मामले में किसी तरफ अपनी राय प्रकट करे। कोई भी जज या सभासद हों उनका काम केवल अपनी राय देकर राजा को मदद करना है—मामला को देखना और उसका निर्णय करना राजा ही का काम है। यदि राजा न आसके तब यह काम जज करेगा ऐसा

विश्वरूप का सिद्धान्त है (याज्ञ० २।१)। यदि ये असेसर काम क्रोध लोभ इत्यादि दोष से कलुषित हों और इस कारण से शास्त्र के विरुद्ध आचरण करें तो उनके ऊपर जुरमाना हो—जो विवाद के मूल्य का द्विगुण होगा। (याज्ञ. २।४)। यह दंड केवल ऐसे विवाद के प्रसंग में है जिनका सम्बन्ध धन से है। और तरह के विवादों के प्रसंग में असेसरों के दुराचरण के लिये और तरह के दंड भी कहे गये हैं। जैसे यदि असेसर घूस ले तो उसका सर्वस्व हरण होना चाहिये अर्थात् उसका सब धन राजा जप्त कर लेगा—ऐसा विष्णुस्मृति में लिखा है। बिना मामला को अच्छी तरह समझे असेसर अपनी राय दे तो उसको विवाद से द्विगुण जुरमाना देना पड़ेगा। असेसरों को भी विवादवालों में से किसी के साथ एकान्त में बातचीत नहीं करना चाहिये। यदि करें तो दंडित हों। विश्वरूपाचार्य के मत से यदि उक्त दोष स्वयं राजा में या जज में पाये जायं तो उनके ऊपर असेसरों के लिये जो दंड कहे गये हैं उनके द्विगुण दंड होंगे।

स्मृति (उद्घोषक) का काम है राजा से किया हुआ विवाद-निर्णय का उद्घोषण करना, अर्थात् इस बात का उद्घोषण करना कि किसने हारा, किसने जीता, किसको क्या दण्ड हुआ (बृहस्पति)।

गणक का काम है—विवाद विषय का क्या मूल्य है इस बात का हिसाब लगाना। गणक को व्याकरण, कोष, हिसाब किताब, गणितशास्त्र नक्षत्रशास्त्र और फलित ज्योतिष में निष्णात, सच्चरित्र, और नाना प्रकार की लिपियों का जाननेवाला होना चाहिये।

लेखक का काम है—निर्णयों का लिखना। यह ऐसा होना चाहिये जो साफ लिख सके, सत्यवादी, शान्तस्वभाव और व्याकरण जानने-वाला हो।

आग और सोना रखने की आवश्यकता शपथ के लिये होती है।

प्यासे और घबड़ाये हुए लोगों के उपकारार्थ जल रखने की आवश्यकता होती है।

'स्वपुरुष' या साध्यपाल का काम है—विवादियों को और उनके गवाहों को बुलाना और उनके ऊपर निगरानी रखना—(बृहस्पत्ति)। यह

शूद्र होगा और सभासदों के मातहत रहेगा। नियुक्ति इनकी राजा ही करेंगे।

विवाद का विचार किस तरह हो रहा है—इसके साक्षी के लिये वहां एक परिषद की आयोजना राजा को कर्तव्य है, जिसमें उच्चकुल के सज्जन, सच्चरित्र, वृद्ध, और धनवान् महाजन लोग रहेंगे (कात्यायन)।

व्यवहार-मामला, मुकद्दमा-किसे कहते हैं ?

[याज्ञ २।५] एक आदमी दूसरेके द्वारा अनुचित प्रकार से पीड़ित होकर जब राजा या जज के पास नालिश करता है—इसीको 'व्यवहार-पद' (मुकद्दमा) कहते हैं।

जब एक आदमी दूसरे के विरुद्ध अपना दावा करता है—यही 'व्यवहार' का मुख्य अंश है। जैसे किसी जमीन के प्रसंग में एक कहता है 'यह मेरी है' और दूसरा कहता है 'नहीं, मेरी है'। व्यवहार के ८ अंश हैं—(१) प्रतिज्ञा (दावा Plaint) (२) उत्तर (बयान तहरीरी, written statement)(३) संशय (Framing of issue), (४) हेतु (बहस Arguments), (५) परामर्श (तहकीकात, Investigation), (६) प्रमाण (सबूत Proofs No Evidence) (७) निर्णय (फैसला Decision), (८) प्रयोजन, निर्णय का परिणाम (जय, पराजय, दण्ड इत्यादि)

याज्ञवल्क्य ने चार ही खण्ड माना है।

चतुष्पाद् व्यवहारोऽयं विवादेषूपदिश्यते। (याज्ञ० २।८)

इसीके अनुसार अपरार्क (पृ० ५८५ में) १ भाषा (दावा) २ उत्तर, ३ प्रमाण और ४ निर्णय इन्हीं चारों को व्यवहार के चार अंश बताया है।

'व्यवहार' पद का यौगिक तथा रूढ अर्थ यों है—अर्थी (मुद्दई) प्रत्यार्थी (मुद्दालह) के बीच का विवाद जिसका अवसान या अन्त 'निर्णय' से होता है। इसके रूढ्यर्थ का वर्णन करते हुए कात्यायन ने कहा है—" धर्म के ह्रास होने पर जब दो आदमियों के बीच किसी वस्तु के प्रसंग में अपने स्वत्व (हक) स्थिर करने के उद्देश्य से विवाद

उपस्थित होता है—इसको 'व्यवहार' कहते हैं।" यदि सभी मनुष्य अपने धर्म पर स्थिर रहें तो कभी विवाद या व्यवहार हो ही नहीं सकता। बृहस्पति ने तो यहां तक कहा है कि विवाद जब होता है तब द्वेष से अथवा लोभ से॥ 'व्यवहार' पद का यौगिक अर्थ भी कात्यायन ही ने बतलाया है—" 'वि' विविध, नाना प्रकार का-'अव' संशय—'हार' हटाना, दूर करना। इससे 'व्यवहार' का अर्थ हुआ 'नाना प्रकार के सन्देहों (झगड़ों) को दूर करना'। (पराशरमाधव-व्यवहार पृ० ७-८)॥ मेधातिथि (मनु ८।१)—अर्थी प्रत्यर्थी की उन क्रियाओं को 'व्यवहार' कहते हैं जिनको वे अपने स्वत्व स्थापन करने के लिये करते हैं। अथवा ऋणादान प्रभृति जो अठारह गिनाये गये हैं उन्हींको हम 'व्यवहार' पद से विवक्षित कह सकते हैं।

प्रतिज्ञा।

प्रतिज्ञा—दावा—दो प्रकार की होती है—'शंकाभियोग' (सन्दिग्ध) और 'तत्त्वाभियोग' (यथार्थ, निश्चयमूलक)। दावा करनेवाला यदि ऐसा है जिसके चरित्र के प्रसंग में उसकी कुसंगति प्रवृत्ति द्वारा नाना प्रकार के सन्देह हो सकते हैं तो उस दावा को 'सन्दिग्ध' कहते हैं। जहां चोर माल समेत पकड़ा गया है और उसके ऊपर मालवाले ने नालिश की तो उसे 'निश्चित' कहते हैं (नारद १।२७)। तत्वाभियोग के भी दो भेद हैं—(१) प्रतिषेध स्वरूप—जिसमें निषेध वाक्य प्रधान है जैसे 'इस आदमी ने मुझसे ऋण लिया सो नहीं दे रहा है'—(२) विधिस्वरूप, जैसे 'यह आदमी मेरी जमीन को जबरदस्ती दखल कर रहा है' (मिताक्षरा पृ० २४१)। विस्तृत रूप से अठारह प्रकार के विवाद हैं—(१) ऋणादान (२) निक्षेप (३) अस्वामिविक्रय (४) सम्भूय समुत्थान, (५) दत्ता-नपाकर्म, (६) वेतनादान (७) संविद्व्यतिक्रम (८) क्रय-विक्रयानुशय, (८) स्वामिपालविवाद, (१०) सीमाविवाद (११) वाक्—पारुष्य (१२) दण्डपारुष्य (१३) स्तेय, (१४) साहस, (१५) स्त्रीसंग्रहण (१६) स्त्रीपुरुषधर्म, (१७) दायविभाग, (१८) द्यूत—समाह्वय। (मनु० ६।४—७)

राजा को स्वयं या किसी राजकीय अफ़सर को यह उचित नहीं है कि

किसी विवाद को उत्पन्न करें अथवा पेश किये हुए विवाद को दबा रखें। (मनु० ८।४३)। इसके दो अर्थ किये गये हैं। राजा किसी मुकद्दमे को चलावे सो उचित नहीं—अथवा यद्यपि अपराधी को अपराधी जानकर राजा स्वयं उसका निपटारा कर सकता है दण्ड इत्यादि दे सकता है, तथापि ऐसा करना उचित नहीं। विवादनिर्णय की जो विधि शास्त्र में कही गई है उसी विधि के अनुसार अभियुक्त के अपराध का यथाशास्त्र विचार कर ही कर निपटारा करना उचित है (मेधातिथि)। पर अपरार्क (६०५) का मत है कि यह अदालती मामलों (ऋणादान इत्यादि) ही के प्रसंग में ठीक हैं—फौजदारी के मामलों में नहीं। यदि किसीने चोरी या खून किया है तो बिना सभा में अभियोग इत्यादि काररवाई के भी राजा स्वयं अपराधी के पकड़े जाने पर दण्ड दे सकता है। सामान्यतः बिना किसी मुद्दई के मुकद्दमा नहीं चल सकता।

निम्न लिखित अपराधों का विचार बिना किसी के नालिश किए राजा स्वयं कर सकता है—डकैती, राजकीय कर-संग्रह में बाधा डालना, किला में उन्मार्ग प्रवेश करना, (पनसाला) प्रपा का भंग करना, आग लगाना, रक्षार्थ परिखाओं को भरना, रायकीय गुप्त विषयों का व्यवहार करना, राजकीय अन्तःपुर में शयनागार में या कोषागार में रसोइ घर में आज्ञा विना प्रवेश करना, राजा से अधिक उज्ज्वल वस्त्र भूषादि धारण करना। सब प्रकार का राजतिरस्कार इत्यादि (पितामह-वीरमित्रोदय पृ. ४६)-राजाज्ञा का भंग करना, स्त्रीवध, व्यभिचार, चोरी, घृणित गाली बकना, गर्भपात कराना, लड़कियों को बहकाना, ब्रह्महत्या गोहत्या उपजी हुई खेती को नष्ट करना। (संवर्त नारद—वीरमित्रोदय ५१)

इन सब अपराधों के पता लगाने के लिए स्तोभक (Detective) और सूचक (Spy) की आवश्यकता होती है। स्तोभक' (Detective) वह है जो द्रव्य (fees) इनाम के लोभ से बिना राजा की आज्ञा से ही अपराधों का पता लगा कर राजा के पास निवेदन करे और 'सूचक' (Spy) वह है जिसको लोगों के अपराधों का पता लगाने के लिये राजा नियुक्त करता है और यह पता लगा कर राजा को सूचित करता है। 'स्तोभक' है Professional Detective और 'सूचक' Police Detective, C. I. D. (कात्यायन वीरमित्रोदय पृ० ५१)

व्यवहारदर्शनविधान

अर्थी—मुद्दई—अपने मन से नालिश करे—राजा राजपुरुष था और किसी के कहने से नहीं (मनु ८।४३)

अर्थी जब अपनी नालिश कर चुका तब प्राड्विवाक (जज) [या साध्यपाल [Bailiff] उसको दावा के बिषय में प्रश्न करेंगे—तुम्हारी हानि कितने की है ? किस प्रकार की है ? क्यों की है (कात्यायन)। पूछे जाने पर यदि मुद्दई चुप रह जाय, उत्तर न दे, तो व्यवहार बन्द कर दिया जायगा, आगे की प्रणाली नहीं चलाई जायगी (पराशरमाधव पृ० ४२)। यदि अर्थी सभा में अपने इष्टमित्रों के संग आवे और प्रश्न के उत्तर उद्धत रीति से देवे तो उसको दण्ड दिया जायगा (उशनस्)। नियम यही है कि अर्थी स्वयं आकर अपना कार्य्य उपस्थित करे। पर किसी किसी अवस्था में विशेष रूप से अधिकृत प्रतिनिधि द्वारा भी यह कार्य हो सकता है (कात्यायन)। पर पिता, माता, मित्र या सम्बन्धी बिना विशेषरूप से अधिकृत हुए भी अर्थी की ओर से कार्य उपस्थित कर सकते हैं (पितामह)। इनके अतिरिक्त और कोई यदि किसीकी ओर से कार्य उपस्थित करे तो दण्डित होगा (नारद)। यदि अपना सब कार्य कहने में अर्थी को तत्काल सभा में संकोच हो तो तीन से सात दिन तक का समय उसे देना उचित हैं (कात्यायन) ॥

इसके अनन्तर सभापति—राजा वा जज—सभासदों से परामर्श कर के प्रत्यर्थी (मुद्दालह) का आह्वान करेगा। यह आह्वान-पत्र अर्थी ही के हाथ में दिया जायगा अथवा राजा ही अपने पुरुष द्वारा भेजवावेगा। यदि प्रत्यर्थी बीमार है, बालक है, बहुत बूढ़ा है, बड़ी विपत्ति में है, धर्म कार्य में अथवा किसी दूसरे बड़े काम में लगा है, अशौच में है या राजकार्य में लगा है या उत्सव में तत्पर है, या मद्यपान से उन्मत्त है—अपस्मार (मिरगी) रोग से पीड़ित है या पागल है तो उसका आह्वान तब तक नहीं होगा जब तक वह आने के योग्य नहीं हो जाय। पर यदि कार्य ऐसा हो कि विलम्ब नहीं हो सकता तो सभा की ओर से सवारी भेजवा कर मंगाया जायगा। यदि प्रत्यर्थी की बीमारी इत्यादि ऐसी है जिससे वह बहुत दिनों तक उपस्थित नहीं हो सकता तो वह अपनी ओर से किसीको अधिकार

देकर भेजेगा ॥ यदि प्रत्यर्थी प्रतिष्ठित घर की युवती स्त्री है, अथवा सद्यः प्रसूता है, अथवा ब्राह्मणी है तो उसके सम्बन्धी ही बुलाये जायंगे। पर यह कृपा अप्रतिष्ठित घर की स्त्रियों पर नहीं हो सकती ॥

जिसका आह्वान हुआ है सो उत्तर करने के लिये स्वयं सभा में उपस्थित होगा। पर यदि असमर्थ है तो उसकी ओर से उसका पिता, पुत्र, भाई वा योग्य भृत्य आवेगा ॥ (कात्यायन) ॥ आह्वान होने पर यदि प्रत्यर्थी उपस्थित न हो, या उपस्थित होना स्वीकार न करे, तो अर्थी उसका 'आसेध' करेगा। अर्थात् क्या तो घर में न रहने देगा या भोजन नहीं करने देगा या कहीं यात्रा के लिये नहीं जाने देगा या कोई आवश्यक कार्य नहीं करने देगा (नारद)। यदि इस 'आसेध' का तिरस्कार करे या आह्वानपत्र का तिरस्कार करे तो राजा से दण्डित होगा। (बृहस्पति) ॥ पर यदि वह कोई युक्तिसंगत कारण बतला सके जिससे वह अह्वान करने पर नहीं आसका—तो उसका दण्ड नहीं होगा—फिर से उसके पास आह्वानपत्र भेजा जायगा। यदि प्रत्यर्थी के प्रति अर्थी अनुचित 'आसेध' का प्रयोग करेगा तो दण्डभागी होगा। यदि प्रत्यर्थी पहाड़ पर या पेड़ पर चढ़ा हो अथवा नाव या गाड़ी पर जाता हो, या घोड़े या हाथी पर चढ़ा हो तो ऐसी अवस्थाओं में उसका 'आसेध' नहीं हो सकता।

बोआइ के समय से लेकर अनाज काट कर कोठी में रखने के समय तक खेती करनेवालों का 'आसेध' नहीं हो सकता। जो विवाह करने जा रहा है या अधिक बीमार है या यज्ञ करने जा रहा है या जिसके ऊपर दूसरा मामला चल रहा है या जो राजकार्य में लगा है लड़ाई के समय सिपाहियों का या बालकों का—आसेध' नहीं हो सकता। इन लोगों का आह्वान भी नहीं हो सकता ॥

आसेध करने पर भी यदि प्रत्यर्थी सभा में उपस्थित न हो तो उसका आह्वान फिर से राजा करेगा। परन्तु अर्थी नियमित अवसर पर उपस्थित होगा इसके लिये अर्थी को एक 'प्रतिभू' Surety देना होगा। (नारद)

दे राजपुरुष आह्वानपत्र ले जायगा उसका भोजनादि व्यय जिसका आह्वान हुआ है उसे ही देना होगा।

आह्वान के अनुसार जब प्रत्यर्थी सभा में उपस्थित हुआ तब वह सुरक्षित स्थान में रक्खा जायगा।

अर्थी प्रत्यर्थी दोनों की ओर से प्रतिभू (surety) ग्रहण आवश्यक है। प्रतिभू ऐसा आदमी होना चाहिये जो विवाद विषयक द्रव्य अथवा सम्भावित दण्ड देने में समर्थ हो। (याज्ञ. २।१०)। विश्वरूपाचार्य के मत में जो विवाद तत्क्षण निर्णय के योग्य हो उसमें प्रतिभू की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई प्रतिभू न हो तो दोनों विवादी राजपुरुषों की देखरेख में रक्खे जायंगे—खरचा दोनों अपना अपना देंगे। पर निर्णय होने पर जो पराजित होगा उसको दूसरेका खरचा देना होगा (अपरार्क)। दोनों पक्ष के प्रतिभू का ग्रहण आवश्यक है क्योंकि नियम यह है जब वादी ने दावा किया—प्रतिवादी ने उसे स्वीकार नहीं किया—वादी ने प्रमाणों से अपना दावा सिद्ध किया—तब प्रतिवादी को दावा देना पड़ेगा और मिथ्या अस्वीकार करने का दण्ड भी दावा के तुल्य देना होगा। इसी तरह यदि वादी अपना दावा सिद्ध न कर सका तो दावा का दुगना दण्ड राजा को देगा। इसलिये दोनों पक्ष के प्रतिभू होने चाहिये। (याज्ञ. २।११)। जब प्रतिवादी दावा को स्वीकार कर लेता है तब उसे किसी प्रकार दण्ड नहीं देना पड़ता॥

यदि प्रतिभू वादी को या प्रतिवादी को नियमित समय पर उपस्थित न कर सके तो दावा का द्रव्य उसे देना होगा। पर यदि प्रतिभू मर गया हो तो यह भार उसके लड़के पर नहीं पड़ेगा—यदि पिता केवल उपस्थिति का प्रतिभू रहा हो। यदि वह द्रव्य चुकाने का प्रतिभू रहा हो तो वह द्रव्य उसके उत्तराधिकारियों को चुकाना होगा। (मनु८।१५८–१६०)

निम्नलिखित प्रतिभू नहीं हो सकते—वादियों का स्वामी, उनका शत्रु, स्वामी का नियुक्त पुरुष, राजद्रोही, जो स्वयं दण्डित हो चुका है, जो स्वयं अभियुक्त है और उस अभियोग का निपटारा नहीं हुआ है, राजकीय पुरुष, तपस्वी, दावा या दण्ड के द्रव्य चुकाने की योग्यता जिसमें नहीं है, सभ्यों का अपरिचित। (कात्यायन)।

यदि वादी या प्रतिवादी अपेक्षित प्रतिभू न दे सके तो वह रक्षकों के देखरेख में रक्खा जायगा। रक्षक का वेतन प्रतिदिन सयंकाल में उसे

ही देना होगा। शूद्रों को जंजीर में बांध कर रखना चाहिये। पर इस प्रकार रक्षित आदमी अपने नित्य कर्मों से वंचित नहीं किया जायगा। (कात्यायन)

व्यवहार के विचारक्रम वादियों के जाति के अनुसार होगा। अर्थात सबसे पहले ब्राह्मणों का अभियोग सुना जायगा, फिर क्षत्रियों का इत्यादि। (मनु ८।२४)। पर ऐसा तभी होगा जब अभियोग एक ही दरजे के हैं। यदि वे भिन्न दरजे हैं तब जो गुरुतर होगा वही पहले सुना जायगा। (मेधातिथि)

जब तक अपने प्रति अभियोग का निर्णय नहीं हो चुका है तब तक प्रतिवादी वादी के प्रति अभियोग नहीं चला सकता (याज्ञ. २।६)। यदि ऐसा प्रत्यभियोग करना ही हो तो अपने अभियोग के निर्णय हो जाने पर करना चाहिये।

एक आदमी के प्रति जब तक एक अभियोग चल रहा है—जब तक उसका निर्णय नहीं हो चुका है—तब तक उसके प्रति दूसरा अभियोग नहीं चल सकता। (याज्ञ. २।६)

पहले जो मैाखिक दावा कर चुका है उसमें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्त्तन लिखित दावा में नहीं होना चाहिये। जैसे यदि मैाखिक नालिश इस प्रकारथा कि ' इसने मुझसे १०० रुपये ऋण लिये थे सो यह नहीं देरहा है '—तो लेख में एसा नहीं लिखना चाहिये कि ' इसने जबर्दस्ती मुझसे १०० रुपये ले लिये '। अपरार्क के मत में यदि परिवर्त्तन पूर्वकथित से असंगत वा विरुद्ध न हो तो कुछ हानि नहीं।

ऋणादान इत्यादि Civil suit में इन आवान्तर क्रियाओं का परिणाम मुख्य व्यवहार पर नहीं पड़ता। केवल कई अवस्थाओं में वादी या प्रतिवादी दंडभागी हो जाता है। पर दंडपारुष्य इत्यादि Criminal cases में इन आवान्तर त्रुटियों का प्रभाव मुख्य व्यवहार पर भी पड़ता है। जैसे यदि मैाखिक अभियोग में अभियोक्ता ने कहा 'इसने मुझे लाठी से मारा' फिर लिखित अभियोग में यदि लिखे कि 'तलवार से मारा' तो उसको इस मिथ्या कहने का ही दंड नहीं मिलेगा—उसका अभियोग भी रद्द कर दिया जायगा।

वाक्पारुष्य—दंडपारुष्य—साहस सम्बन्धी अभियोगों में निर्णय के पहले भी प्रत्यभियोग हो सकता है (याज्ञ० २।१०)। एसे प्रत्यभियोगों का मुख्य उद्देश्य रहता है अपने अपराध की न्यूनता कराकर दंड में कमी कराना। जैसे यदि किसीके ऊपर मार पीट का अभियोग लगाया गया है तब यदि वह यह प्रत्यभियोग करे और उसको सिद्ध करे कि पहिला अभियोक्ता ही ने पहले उसे ही मारा था फिर अपने बचाने के लिये उसने भी मारा—तो अवश्य उसका दंड कम हो जायगा, प्रत्युत नारद के अनुसार जिसने पहले प्रहार किया उसका दंड अधिक होगा, दूसरे का कम।

यदि दोनों ओर से अभियोग प्रत्यभियोग उपस्थित किया जाय तो इन दोनों में जो गुरुतर हो उसीका विचार पहले होगा।

साहस, चोरी, वाक्पारुष्य, दंडपारुष्य, गोबध, स्त्रियों के प्रसंग अभियोग [अथवा विश्वरूप के अनुसार स्त्रियों के विरुद्ध अभियोग]—इन अभियोगों का विचार तत्क्षणही होना चहिये। अभियुक्त को अभियोग का उत्तर उसी क्षण देना होगा। (याज्ञ. २।१२)। और तरह के मामलों में यदि प्रतिवादी (अभियुक्त) कुछ समय उत्तर के लिये चाहे तो विचार के लिये दूसरा दिन नियत हो सकता है। पर इसके प्रसंग कात्यायन ने कुछ नियम लिखे हैं—जिस अपराध का अभियोग है सो यदि उसी दिन किया गया हो तो उसका विचार उसी दिन होगा। यदि अपराध एक वर्ष पहले हो चुका है, तो विचार एक दिन के बाद भी हो सकेगा। यदि छः वर्ष पहले, तो तीन दिन के बाद। यदि बारह वर्ष पहले तो सात दिन के बाद। यदि बीस वर्ष पहले, तो एक मास के बाद। पर यह सभा के ऊपर निर्भर है-जैसा कार्य, जैसा अवसर रहेगा वैसा समय दिया जायगा।

यदि धनी अपना पावना चुकाने के लिये ऋणी को स्वयं पकड़े या और किसी तरह का बलात्कार करे—अदालत में बिना नालिश कर अपने पक्ष को सिद्ध किये—तो उसका पक्ष 'हीन' हो जायगा। अर्थात् अदालत में उसकी हार करदी जायगी। (याज्ञ० २।१६)। इसका तात्पर्य यह है कि फिर कभी इस ऋण के प्रसंग दावा नहीं कर सकेगा। (पराशरमाधव पृष्ठ० ५८)।

ऋणी ने ऋण को स्वीकार कर लिया—अथवा ऋण अदालत में सिद्ध हो गया—फिर यदि ऋणी बिना ऋण चुकाए भाग जाय तो उसकी हार तो होगी ही—ऊपर से उसको जुरमाना भी होगा। (याज्ञ० २।१६)। अदालत से बुलाए जाने पर यदि अभियुक्त अदालत में कुछ उत्तर देना स्वीकार न करे तो उसकी हार होगी और उसका दंड भी होगा। (याज्ञ० २।१६)।

पूछे जाने पर अभियुक्त यदि स्थान के प्रसंग झूठ बोले अथवा पहले जो कह चुका है उसका अस्वीकार करे या परस्पर विरुद्ध बातें कहे या अपनी बात को सिद्ध न कर सके या बिना समझे बूझे ऊटपटांग उत्तर दे या पूछे जाने पर कुछ उत्तर ही न दे तो उसकी हार होगी (मनु० ८।५३—६०)। उसके ऊपर क्या अभियोग लगाया गया है सो जब अभियुक्त मुद्दालह को समझा दिया गया—उसे इसके प्रसंग क्या कहना है सो पूछे जाने पर यदि वह किसी प्रश्न का उत्तर न दे सके तो उसकी हार होगी। ४५ दिन के भीतर अभियुक्त को उत्तर देना आवश्यक है। पर अभियोक्ता को अभियोग के प्रसंग सभी प्रश्नों का उत्तर पहले ही दिन देना होगा। यदि न दे सके तो उसको दंड दिया जायगा (मेधातिथि)।

'अपने साक्षियों के नाम बताओ' ऐसा कहे जाने पर यदि वादी या प्रतिवादी नाम न बता सके तो उसकी हार होगी (मनु० ८।५७)।

एक बयान कहके फिर यदि इससे बिलकुल भिन्न बयान करे या यदि अपने विपक्षी से कहे "मैंने नालिश नहीं की है" यदि सभ्यों या साक्षियों के प्रति द्वेष वा निरादर प्रकट करे; बुलाये जाने पर यदि न आवे; यदि पूछे जाने पर कुछ उत्तर न दे या अंडबंड बके (या बुलाये जाने पर भाग जाय) तो उसकी हार होगी। यदि पूछने पर उत्तर न दे तो उसी क्षण कैद कर लिया जायगा (नारद—पराशर-माधव पृ० ६४)।

जो बुलाये जाने पर भाग जाय, या पूछे जाने पर चुप रहे, या जिसका पक्ष प्रमाणों से मिथ्या ठहरे, या जो स्वयं विपक्षी की बात को स्वीकार करले—उसकी हार होगी। भागने वाले की हार पंद्रह दिन के

बाद की जायगी; चुप रहनेवाले की सात दिन के बाद और बाकी दोनों की तत्क्षण में (बृहस्पति—पराशरमाधव ५७)। पर यदि ऊपर कहे हुए अपराध किसी ऐसी कारण से हो जो उस आदमी के हाथ से बाहर है तो वह दोषी नहीं समझा जायगा--ऐसा बृहस्पतिही ने कहा है।

पर इन कारणों से हार हो जाने पर भी इन अपराधों का दंड देकर फिर से वह आदमी अपना पक्ष उज्जीवित कर सकता है। जिसने अपनी बयान बदली हो उसको पांच पण दंड देना होगा। जिसने अदालत की निरादर की है उसे १० पण। जो बुलाये जाने पर उपस्थित न हुआ उसे १२ पण। पूछे जाने पर जिसने उत्तर नहीं दिया उसे १६ पण। जो भाग गया उसे २० पण (कात्यायन—पराशरमाधव पृ० ५७)।

'एक बार डिसमिस हो जाने पर फिर से वही अभियोग नहीं लाया जा सकता'—यह नियम केवल वाक्पारुष्य इत्यादि फौजदारी के लिये है। पशु-स्त्री-भूमि-ऋण इनके सम्बन्धी अर्थविवादों (अदालती मुकदमे) के लिये नहीं। इनमें उक्त अपराधों का दंड देगा पर वादी या प्रतिवादी अपना धन नहीं खोएगा (नारद)।

वादी, प्रतिवादी या साक्षी सत्य कह रहा है या मिथ्या इसके समझने के कई चिह्न बताये गये हैं। यदि सभा में आने पर बिना कारण किसी आदमी का चित्त, बोली या शरीर या चाल ढाल विकृत हो जाय तो उसे दोषी या मिथ्यावादी समझना। यदि एक जगह स्थिर नहीं रह सके, यदि जीभ से बारम्बार ओठ चाटे, माथे में पसीना छूटे, चेहरा पीला पड़ जाय, या तो बोली रुक सी जाय या रुक रुक कर बोले; अधिक और अंडबंड बके; जो प्रश्न पूछे जायं उनके उत्तर न दे सके; प्रश्नकर्ता के सामने आंखें न उठा सके—तो ऐसे आदमी को मिथ्यावादी समझना (याज्ञ० २।१३–१५)। पर ये सब चिह्न निरे उपलक्षक हैं—मिथ्यात्व के प्रमाण नहीं। क्योंकि यह निश्चय करना कठिन है कि उक्त विकृतियाँ क्या अपराधजन्य डर के कारण हैं या राजसभा (अदालत) में एकाएक आने से। अपरार्क में स्पष्ट कहा है। कि इन चिह्नों को केवल सहकारी प्रमाण मान सकते हैं इन्हीके ऊपर निर्भर होकर निर्णय कर देना ठीक नहीं हो सकता।

इस विषय के प्रसंग अर्थशास्त्र (३।१) का सिद्धान्त यों है। वादी (मुद्दई) एक तरह का बयान कर के फिर उसे वापस करले और दूसरी पेश करे, उसके बयानों में पूर्वापर विरोध का विचार न हो; प्रतिवादी के उत्तर को सुनकर भी चुप रहे उसका खंडन न करे—"मेरे साक्षी हैं" ऐसा कह कर समय आने पर उन्हें न ला सके या लावे भी तो जितने कहे हों उनसे कम, या ऐसे जो नियमों के अनुसार साक्षी नहीं हो सकते, या नाम एक का लिखाकर पेश करे दूसरेको (या अपने ही साक्षियों की बयान में बीच में कह पड़े "यह झूठ कह रहा है", यदि अनुचित स्थान में साक्षियों से बातचीत करे —तो उसकी हार होगी। ऐसी दशा में यदि साक्षियों के बयान के बाद हार हुई तो वादी का दंड दावे का पंचमांश होगा। यदि उसकी अपनी ही बयान के बाद हार हुई तो दावे का दशमांश। इस तरह हारे हुए बादी को जजों के वेतन का अष्टमांश भी देना होगा और मामले के प्रसंग जिन लोगों का आना जाना हुआ हो उस आने जाने का मार्गव्यय भोजन इत्यादि का व्यय भी उसे ही देना होगा।

अभियोग सभा में लाया गया—उसके सम्बन्ध के पूर्वांग सब समाप्त हो चुके और विचार आरम्भ हो चुका। इसके बाद यदि वादी-प्रतिवादी आपस में विवाद तै करलें तो दोनोंको दावे का द्विगुण दंड देना होगा (बृहस्पति-पराशरमाधव पृ० ५८)। पर कात्यायन के अनुसार यह दंड तभी होगा जब राजा से किसी प्रकार की ठगाई की गई होगी। किसी किसी विवाद में राजा की आज्ञा से भी वादी-प्रतिवादी आपस में तै करले सकते हैं—जैसे जब प्रमाणबल दोनों पक्ष में बराबर है।

'भाषा' अर्थीका आवेदन (मुद्दइ की नालिश)

प्रति व्यवहार में चार प्रधान अंश होते हैं—(१) अर्थी का आवेदन—'पूर्वपक्ष' (२) प्रत्यर्थी का उत्तर—'उत्तरपक्ष' (३) प्रमाण—'क्रिया' (४) निर्णय, सिद्धान्त—'प्रत्याकलित'। आह्वान पाने पर जब प्रत्यर्थी सभा में उपस्थित हुआ तब उसके समक्ष में अर्थी अपना दावा (जो पहले केवल वाचनिक थी) लिख कर पेश करे। जिन्हीं शब्दों में जिसी रूप की पहले वाचनिक दावा की गई थी उन्हीं शब्दों में उसी रूप की

लिखी जानी चहिए। [पर विश्वरूप का मत है कि लेख में उपक्रम उपसंहार सहित सर्वांगपूर्ण प्रतिज्ञा होनी चहिए जो वाचनिक प्रतिज्ञा में नहीं हो सकता]। इस लिखित प्रतिज्ञा पर दोनों पक्षियों के नाम और जाति तथा तारीख लिखे जाने चहिएं और विवादास्पद द्रव्य उसका परिमाण वा संख्या वर्ष, मास, पक्ष, तिथि इत्यादि। (याज्ञ० २।६-७) अर्थी के इस प्रतिज्ञापत्र का पारिभाषिक नाम हैं 'भाषा' 'प्रतिज्ञा' 'पक्ष'–अर्थात् अर्जीदावी। 'आवेदन' (दावा) और 'भाषा' (अर्जीदावी) में यही भेद है कि दावा पहले वाचनिक होता है और उसमें केवल स्थूल रूप से विवाद विषय सूचित रहता है पर 'भाषा' में उपक्रमोपसंहारसहित सर्वांग परिपूर्ण पक्ष विस्तृत रूप से लिखा रहता है।

देश, गांव इत्यादि का नाम लिखना केवल स्थावर धन के सम्बन्ध के व्यवहार में आवश्यक है। "देश, शहर, गांव विवाद विषय का स्थान दोनों विवादियों की जाति और नाम, उनके पड़ोसियों के नाम, रहने की जगह, प्रमाणपत्र, नाप, चाल, जमीन का पूरा पता–दोनों विवादियों के बाप, दादा, परदादा के नाम; राजा, उनके पिता और पितामह के नाम—ये सब स्थावरधनसम्बन्धी विवाद में लिखे जाने चहियें।" अपरार्क का मत है कि केवल ऐसेही ब्योरों का लिखना आवश्यक है जिस से विवाद के निर्णय में कुछ मदद मिल सके। जैसे, यदि ऋण सम्बन्धी विवाद है तो जिस दिन ऋण लिया गया उस दिन का नाम लिखना आवश्यक होगा क्योंकि उसके बिना सूद कितना होगा इसका निर्णय नहीं हो सकेगा।

जिस 'भाषा' में आवश्यक विषय न लिखे हों उसको रद्द कर देना चाहिये—और

अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम्।
असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत्।

जो भाषा या पक्ष–नालिश–'अप्रसिद्ध' असम्भव है (जैसे इसने मेरा आकाश कुसुम ले लिया)–या 'निराबाध', अर्थात् जिस बात की नालिश है उससे नालिश करने वाले को कुछ कष्ट नहीं होता हो (जैसे ' मेरे घर में जो चिराग जलता है उसकी रौशनी से यह अपना काम चलाता

है')-'निरर्थक' बिना मतलब का, अंडबंड- निष्प्रयोजन' फजूल, व्यर्थ [जैसे मेरे घर के पास बैठकर यह वेद पढ़ा करता है] 'असाध्य' जिसका साधन या सबूत असम्भव है [जैसे 'देवदत्त ने मेरी ओर ताक कर हँस दिया'] यह 'असाध्य' इसलिये है कि इस बात का साक्षी मिलना असम्भव है। 'विरुद्ध' जिस नालिश से देश की तथा राज्य की हानि हो-ऐसी भाषाओंका त्याग ही उचित ही-अर्थात् Summary dismissal (अपरार्क पृ० ६०६)। तत्क्षण डिसमिस करने लायक नालिशों में एक है 'अनेकपदसङ्कीर्ण'-अर्थात् जिसमें कई दावे मिले हों, जिसमें एकही भाषा में कई बातों की नालिश हो। ऐसा अर्थ अपरार्क का है। पर मिताक्षरा (पृ० २५३) के मत में ऐसी नालिश भी स्वीकार की जा सकती है जैसे-'इसने मुझसे ऋण लिया सो नहीं चुकाता, मैंने इसके पास सोना धरोहर रक्खा था सो नहीं लौटाता; यह जबर्दस्ती मेरा खेत छीनता है'। मिताक्षरा का मत यह है कि जहां स्मृतियों में 'अनेकपदसङ्कीर्ण' पक्ष का त्याग लिखा है वहां मतलब इतना ही है कि जब ऐसी नालिश की जाय तो जितनी बातें मिला दी गई हैं उनका विचार एक साथ नहीं--अलग अलग होना चाहिये ॥

एक वादी यदि कई आदमियों के प्रति एकही 'भाषा' में दावा करे तो उस 'भाषा' का भी डिसमिस करना उचित है। इसी तरह गुरुशिष्य, पितापुत्र, पतिपत्नी, स्वामीभृत्य का परस्पर विवाद भी त्याज्य है। (नारद) एक आदमी की नालिश कई आदमियों पर तभी त्याज्य होगा जब एक साथ एकही 'भाषा' में हो। यदि अलग अलग 'भाषा' अर्जी-दावी हो तो कोई हानि नहीं है ॥ दासों के ऊपर जब नालिश होगी तब उनके स्वामी के द्वारा, साक्षात् स्वतंत्र नहीं। गुरुशिष्य के प्रसंग जो निषेध है उसका मतलब यह है कि यदि गुरु शिष्य को पीटे तो इसके प्रसंग नालिश शिष्य का गुरु के प्रसंग ग्रहण योग्य नहीं हो सकता (अपरार्क ६११)

गुरुशिष्य, पतिपत्नी इत्यादि निकट सम्बन्धियों के बीच विवाद नहीं चल सकता सो इससे स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य (२।५) ने 'परैः' पद का प्रयोग किया। अर्थात् परायों से क्लेशित होकर जो राजा के पास

आवेदन करे उसी को 'व्यवहार' 'विवाद' 'मुकदमा' कहते हैं। एसा विश्वरूप का सिद्धान्त है।

नारद ने हेय पत्रों की तत्क्षण डिसमिस करने के योग्य नालिशों को इस तरह गिनाया है। (१) यदि एक आदमी ऐसे धन का दावा करे जिसके अनेक स्वामी हैं-(२) यदि विवादविषय भूमि के नाप में या वस्तुओं की गिनती में प्रत्यक्ष गलती है---(३) यदि वादी यह न बतावे कि विवादविषय उसका किस तरह हुआ, विद्याद्वारा या क्रयद्वारा या दायद्वारा---(४) यदि मास, पक्ष, दिन, तिथि इत्यादि न लिखा हो (५) यदि वादी प्रतिवादी के उत्तर से पहले ही अपने साक्षियों के नाम लिखा दे---(६) यदि 'भाषा' स्पष्ट नहीं हो---(७) यदि क्रम ठीक नहीं हो---(८) यदि विवाद विषय का स्पष्ट निरूपण न हो केवल तत्सम्बन्धी इधर उधर की बातें लिखी हों। (९) यदि उचित काल व्यतीत हो गया है---(१०) यदि एक से अधिक प्रतिज्ञा हो। (पराशरमाधव पृ०४९)

अर्थशास्त्र में (३।१) कौटिल्य ने पत्रों के प्रसंग ये नियम लिखे हैं। यदि रहस्यविषयक पत्र है-यदि घर के भीतर की कोठरी में किये हुए व्यापार के विषय में है, यदि रात में किये कार्य के विषय में है, यदि जंगल में किये हुए कार्य के विषय में है, यदि छद्म से किये कार्य के विषय में है--जिसका विषय किसीको ज्ञात नहीं है ऐसे पत्र तत्क्षण हेय हैं। इनका स्वीकार सभा में नहीं हो सकता। ऐसे पत्रों को जो उपस्थि करे वा करावे उसको २५० पण दंड देना होगा। पर स्थावर सम्पत्ति गिरों रखकर यदि ऋण लिया गया है तो यद्यपि एकान्त ही में ऋणलिया गया हो तथापि उसकी नालिश हो सकती है। रात के किये कार्यों में भी चोरी गाली इत्यादि विषय के विवाद हो सकते हैं। जंगल में किये कार्यों में जंगल के निवासियों के प्रति व्यवहार चल सकता है। जो विषय लोगों को ज्ञात नहीं हैं ऐसों में विवाह प्रीति इत्यादि विषय के व्यवहार चल सकते हैं। जिस आदमी का पिता जीवित है वा जो परतन्त्र है सो स्वयं किसी व्यवहार को उपस्थित नहीं कर सकता।

वादी के प्रसंग जो नियम हैं वे उसके पिता पुत्र या और किसी अधिकृत प्रतिनिधि पर भी लागू होंगे। इनके जय पराजय से मुख्य वादी का जयपराजय होगा।

वादी या उसके प्रतिनीधि का जो कुछ वक्तव्य हो उसे लिखलेना चाहिए—पहले जमीन पर या तख्ती पर। तब परिशोधित होने पर कागज पर (कात्यायन)। इसमें परिवर्त्तन परिशोधन टिप्पणी इत्यादि तभी तक किये जा सकते हैं जब तक प्रतिवादी का उत्तर नहीं आया है। जब तक इस भाषा (अर्जीदावी) का संशोधन इत्यादि पूर्णरूप से नहीं हो चुका है तबतक प्रतिवादी से उत्तर नहीं तलब किया जा सकता। यदि वादी किसी कारणवश तत्क्षण सर्वांग परिपूर्ण 'भाषा' नहीं लिखा सके तो उसे कुछ समय मिलना चाहिये। जब कभी अभियोग के विरुद्ध प्रत्यभियोग भी उपस्थित हो तब या तो दोनों वादियों में जो जाति में ऊंचा हो उसीके अभियोग का पहले विचार हो—अथवा (नारदके अनुसार) जिसका अभियोग गुरुतर हो उसीका।

'पूर्वपक्ष' 'भाषा' या नालिश चार तरह की हो सकती है-(१) 'शंकाभियोग-अभियुक्त ने कदाचित् मेरी वस्तु लेली है इसी सन्देह पर जो की जाय—(२) निश्चित या तथ्य अभियोग-जब कि विवाद विषय वस्तु अभियुक्त के हाथ में पायी गयी है—(३) वादी का जो उचित पावना है उसके लिए अभ्यर्थना—(४) निर्णीत अर्थ का पुनर्विचार की प्रार्थना। (बृहस्पति-पराशरमाधव पृ ५१)।

पूर्वपक्ष को सुनलेने पर प्रतिवादी उत्तर देगा। यह उत्तर वादी के समक्ष में लिखा जायगा। (याज्ञ-२।७)। विश्वरूप का कहना है कि वादी के समक्ष इसलिये कहा जायगा कि जिसमें उसी क्षण दोनों के वक्तव्यों को सुन कर राजा या जज निर्णय कर सकें—विशेषतः उन मामलों में जिनका निर्णय शीघ्र होना आवश्यक है। उत्तर ऐसा हो जो (१) पूर्वपक्ष का पूर्ण खण्डन करे-(२) दृढ़ और युक्तिसिद्ध (३) स्पष्ट (४) संगत-(५) सुबोध शब्दों में लिखित। हारीत के मत से उत्तर अधिक लम्बा न हो तो ठीक है। (पराशरमाधव पृ. ५४)

वाक्पारुष्य आदि (फौजदारी) के अभियोग में अभियोग के साथही उत्तर की तलब होनी चाहिये। और तरह के अभियोगों में कुछ और समय दिया जा सकता है—वादी-प्रतिवादी या सभ्यों की इच्छा के अनुसार (याज्ञ. २।१२, नारद १।३२)

उत्तर भी चार प्रकार के होते हैं— । (१) 'मिथ्या'–पूर्वपक्ष में जो अभियोग लगाया गया है सो झूठ है–अथवा 'मैं इसके प्रसंग कुछ नहीं जनता'–(२) सम्प्रतिपत्ति—'पूर्वपक्ष में जो लिखा है सो ठीक है'—(३) 'प्रत्यवस्कन्दन' अभियोग का खंडन—'मैंने ऋण ठीक लिया था–पर उसे मैंने दे दिया'–(४) प्राङ्न्याय'—'जो अभियोग अभी उपस्थित किया गया है उसका निर्णय पहले हो चुका है' । (नारद–पराशरमाधव पृ. ५६)

असत्. उत्तर या उत्तराभास के ये लक्षण हैं । (१) 'अप्रसिद्ध'-विवादविषय के चिह्न संख्यादि बिना जाने लिखागया-अथवा ऐसे शब्दों में लिखा गया जिसे कोई समझ न सके । (२)–'विरुद्ध'-पहले कहा कि 'मैंने तो लड़कपनही में यह ऋण चुका दिया' फिर कहे कि 'नहीं नहीं–ठीक है मैंने नही चुकाया' । (३) 'अतिभूरि'–बहुत लम्बा चौड़ा–अनपेक्षित बातों से भरा । (४) 'सन्दिग्ध'–'मैंने ऋण अवश्य लिया पर १०० अशर्फियां १०० माशे सोना' अथवा 'मयादेयम्' इस तरह के शब्द में–जिसका अर्थ, 'मया देयम्' मेरा देना उचित है, और 'मया अदेयम्' मेरा देना उचित नहीं है, दोनों हो सकता है । (५)'असम्भवि'–जब सोलह बरस का प्रतिवादी उत्तर दे कि 'मेरा पौत्र यह ऋण दे चुका है ।' (६) 'अव्यक्त'–जिसका मतलब साफ नहीं है । (७) 'अन्यार्थ' विवादविषय से सम्बन्ध न रखकर जिसका सम्बन्ध किसी और ही विषय से हो । (८) 'दोषवत्'–दावा है १०० रुपये का पर उत्तर में कहाजाता है २०० । (९) 'निगूढ'–टेढ़े मेढ़े शब्दों में, साफ शब्दों में नहीं । (१०) 'व्याकुल'–घबड़ाया हुआ अंडबंड । (११) 'व्याख्यागम्य'–जिसका तात्पर्य बिना व्याख्या के न समझा जाय । (१२) 'असार'—जिसका कुछ मतलब न हो । [कात्यायन-पराशरमाधव पृ० ५७–६०] ।

उत्तर एक होना चाहिये–एक प्रतिज्ञावाक्य–कई प्रतिज्ञाओं की खिचड़ी नहीं । क्योंकि कई प्रतिज्ञाओं के होने से विचारणीय विषय स्पष्ट नहीं हो पाता—जिससे विचार में और तज्जन्य निर्णय में भी बाधा पड़ती है । जैसे उत्तर में यदि 'प्रत्यवस्कन्दन' और 'पाङ्न्याय' दोनों रखदिये जांय तो निर्णय कठिन हो जायगा । पर यदि ये दोनों बातें अलग अलग पेश

की जाएं तो कुछ गड़बड़ी न हो। आशय यह है कि उत्तर ऐसा हो जिससे विचार का मार्ग सुगम न कि कठिन हो जाय। इस गड़बड़ी का कारण अपरार्क में बताया है। यदि उत्तर 'मिथ्या' है—अर्थात् 'वादी का कथ्य बिलकुल झूठ है' इस प्रकार का है तब अपने पक्ष के समर्थन में अपनी उक्ति को सत्य सिद्ध करने के लिये प्रमाणों को उपस्थित करना वादी का कर्तव्य होगा। यदि 'उत्तर' 'प्रत्यवस्कन्दन' रूप का है—अर्थात् 'मैंने ऋण लिया सही, पर चुका दिया'—तो इस दशा में प्रमाण उपस्थित करना उत्तरवादी का कर्तव्य होगा। इसलिये यदि उत्तर में दोनों स्वरूप हो—'मिथ्या' भी और 'प्रत्यवस्कन्दन' भी—तब किसको प्रमाण उपस्थित करना होगा इस बात में बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी। इसीसे मिश्रित उत्तर अनुचित समझा गया है।

जब वादी प्रतिवादी दोनों ने अपने अपने पक्षों को लिखवा डाला और विचार आरम्भ हो गया तब यदि वादी या प्रतिवादी लिखी हुई बातों से कुछ भी अधिक कहे तो ऐसा कहनेवाला 'हीन' 'हारा हुआ' समझा जायगा (कात्यायन)।

यदि प्रतिवादी उत्तर न दे तो उससे उत्तर लिखवाना चाहिए। (बृहस्पति)। यदि सात दिन उत्तर न दे तो उसके विरुद्ध निर्णय होगा (कात्यायन)। पर मनु ने कहा है (८।५८) कि उत्तर देने के लिये प्रतिवादी को ४५ दिन का समय देना चाहिये। यदि तबतक उत्तर न देवे तो 'हीन' समझा जायगा। गैातम (१३।२८) के मत से कभी कभी सालभर का भी समय देना उचित होगा। पर मेधातिथि ने कहा है कि यह नियम व्यवहार में नहीं बरतना चाहिये। इनके मत से सभा को उतना ही समय उत्तर के लिये देना चाहिये जितना अभियोग के समझने और उत्तर के तय्यार करने में लगे। भारी फौजदारी में यह समय देना उचित नहीं है—अभियुक्त को अभियोग का उत्तर उसी क्षण में देना होगा।

यदि अप्रगल्भता, डर या विस्मरण के कारण अभियुक्त समय के लिये प्रार्थना करे तो उसे कार्य के अनुसार १, ३, ५, ७, १५, ३०, ७०, या ३६० दिन का समय मिल सकता है। यदि अभियोग का विषय उसी क्षण में हुआ है तो उत्तर भी उसी क्षण में होना चाहिये। यदि

अभियोग-विषय हुए एक मास बीत गया तो उत्तर के लिये एक दिन का समय मिलेगा। यदि छ बरस बीत गये, तो ३ दिन। यदि १२ बरस, तो सात दिन। यदि २० बरस, तो १० या १५ दिन। यदि ३० बरस तो, ३० दिन। उससे अधिक में ४५ दिन। यदि प्रतिवादी परतन्त्र है या अप्राप्त व्यवहार (नाबालिग) है या पागल है या रोगी है तो उत्तर के लिये एक बरस का समय मिलेगा। (नारद—पराशर-माधव पृ० ८५)।

जिस मामले में वादी या प्रतिवादी या साक्षी देशान्तर में हैं उसमें जब तक वे आवें तब तक विचार रुका रहेगा। (कात्यायन— माधव ५५)।

ऋण, बन्धक, न्यास, दान और दाय के विषय में जो व्यवहार है उनमें उत्तर के लिये समय अवश्य मिलेगा। (पितामह—माधव ५५)।

फौजदारी में और भूमि के विवाद में विचार तत्क्षण ही होगा। (बृहस्पति—माधव ५६)।

अर्थशास्त्र के अनुसार यदि अभियुक्त तत्क्षण उत्तर न दे सके तो उसे तीन या सात दिन का समय मिलेगा। उसके बाद यदि न दे तो ३ से १२ पण तक दंड देना होगा। यदि ४५ दिन तक उत्तर न दे तो दावी का पञ्चमांश जुरमाना देना होगा और उसकी सम्पत्ति वादी को दे दी जायगी। केवल उसके जीवननिर्वाह की सामग्री उसके पास छोड़ दी जायगी। यही दण्ड उस अभियुक्त का भी होगा जो अभियोक्ता (वादी) के सामने से भाग जाय (अर्थशास्त्र ३।१)।

'मिथ्या' उत्तर के चार स्वरूप हैं—'दावा बिलकुल झूठ है'—'इस दावे के प्रसंग में मैं कुछ नहीं जानता'—'जिस समय का कार्य दावा का मूल बताया जाता है उस समय मैं वहां उपस्थित न था'—'उस समय तो मेरा जन्म भी नहीं हुआ था'। (प्रजापति—पराशरमाधव ५७)।

सभापति को उचित है कि निम्नलिखित बातों का एक चिट्ठा बना लें—साल, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, व्यवहार उपस्थित करने की सभा

का स्थान, ऋण का परिमाण, निवासस्थान, जाति, गोत्र, नाम, वृत्ति—दोनों वादियों का परस्पर सम्बन्ध। जो जो प्रश्न दोनों ओर से पूछे जा सकते हैं। (अर्थशास्त्र ३।१)।

प्रमाण

उत्तर आ जाने पर बादी अपने पक्ष के साधन (प्रमाण) लिखवावेगा। (याज्ञ. २।७)।

यदि प्रतिवादी ने दावे का इनकार किया है तो बादी अपने पक्ष के साधन के लिये साक्षी (गवाह) लेख (दस्तावेज) इत्यादि प्रमाण उपस्थित करेगा (मनु ८।५२)। सामान्यतः प्रमाण उपस्थित करना अर्थी ही का कर्त्तव्य होगा-ऐसा मिताक्षरा में लिखा है (पृ० ४२) जैसा याज्ञवल्क्य ने (२।७) में कहा है। पर यदि उत्तर 'प्राङ्न्याय' रूप का है तो उसका प्रमाण प्रतिबादी को उपस्थित करना होगा (हारीत)। यह प्रमाण केवल पूर्वनिर्णयसम्बन्धी जयपत्र हो सकता है (व्यास)। उत्तर यदि 'प्रत्यवस्कन्दन' रूप का है—तब इस प्रत्यवस्कन्दन या खण्डन का प्रमाण भी प्रतिवादी ही को उपस्थित करना होगा। यदि उत्तर 'स्वीकार' रूप का है—अर्थात् यदि प्रतिवादी ने दावे को स्वीकार कर लिया है—तो किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस स्वीकार ही से विवाद का निपटारा हो जाता है। यदि प्रतिवादी ने दावा स्वीकार नहीं किया है तो—यदि बादी कम से कम तीन साक्षी अपने पक्ष के साधन में उपस्थित कर सका तो उसकी जय होगी। (मनु ८६०)।

अर्थशास्त्र (३।१) के मत से जिस दिन प्रतिवादी ने उत्तर दिया उसी दिन उत्तर का खण्डन बादी पेश करेगा। यदि न करे तो हरा-दिया जायगा।

लिखित (दस्तावेज)—भुक्ति, भोग (दखल) और साक्षी (गवाह) —ये ही प्रमाण हैं। इनमें से एक भी न हो तो दिव्य (शपथ)। (याज्ञ—२।२२)। प्रमाण दो प्रकार के होते हैं—लौकिक तथा अलौकिक। साक्षी—लेख—अनुमान (युक्ति) ये तीन 'लौकिक' प्रमाण हैं। (कात्यायन)

इनमें साक्षी बारह तरह के, लेख अट्ठारह तरह के और अनुमान तीन प्रकार के होते हैं (बृहस्पति)। लौकिक प्रमाण अलौकिक प्रमाण से अधिक बलवान् है। साक्षी से लेख अधिक बलवान् होता है। पूग, श्रेणी, गण इत्यादि के व्यवहारों के विषय में केवल लेख ही प्रमाण हो सकता है। देन चुकाया गया या नहीं–इस विवाद में स्वामी, भृत्य के विवाद में, क्रयविक्रयानुशय में—द्यूत और साहस के विषय में—केवल साक्षी ही प्रमाण हो सकते हैं। प्रकाश–खुले कार्यों में साक्षी, प्रमाण हैं—अप्रकाश—छिपे कार्यों में 'दिव्य'। महापातकों के विषय में साक्षियों के होते हुए भी दिव्यों का प्रयोग किया जाता है। (बृहस्पति)। जहां दोनों पक्ष में तुल्य प्रामाणिक साक्षी हों तहां भी दिव्यों की अपेक्षा होती है–विशेष कर जिस मामले में जीवनमरण का विषय हो–या जहां लेख प्रमाण दुष्ट या अविश्वस्त निकले। (कात्यायन)।

लेख दो प्रकार के होते हैं–(१) राजकीय–राजाज्ञा रूप–(२) लौकिक सामान्य मनुष्यों में परस्पर लिखित। 'भुक्ति' है भोग, दखल। वाचिक प्रमाण है 'साक्षी'।

दोनों वादियों में यदि एक लौकिक प्रमाण उपस्थित करे और दूसरा अलौकिक, तो लौकिक प्रमाणवाले की जीत होगी। सम्पूर्ण दावा का लौकिक प्रमाण नहीं होने पर भी यदि उसके किसी अंश का भी लौकिक प्रमाण हो तो दावा प्रामाणिक समझा जायगा। यदि ऋण का दावा है–'इसने मुझ से सौ रुपये लिये थे जिसका व्याज लेकर १५० रुपये मेरे होते हैं'–पर लौकिक प्रमाण केवल ऋण ही का है व्याज के प्रसंग में नहीं–तब भी यदि ऋण के प्रसंग में साक्षी विश्वस्त पाये जाएं तो व्याज समेत दावा सिद्ध समझा जायगा। जहां जहां दिव्य प्रमाण माना गया है तहां तहां यह समझना चाहिये कि दिव्य या अलौकिक प्रमाण का उपयोग वहीं होगा जहां लौकिक प्रमाण किञ्चिन्मात्र भी उपलब्ध नहीं है (मिताक्षरा २।२२)।

लौकिक प्रमाण के उपयोग के प्रसंग में भी कई नियम हैं: जैसे 'जहां दोनों वादी एक ही गण या श्रेणी के हैं वहां केवल लेख प्रमाण का उपयोग होगा–साक्षियों का नहीं'—रास्ता, पानी के बहाव इत्यादि विषय

के विवाद में भुक्ति ही प्रधान प्रमाण मानी जायगी '—' वेतनादान, द्यूत इत्यादि विषय में केवल साक्षी प्रमाण हो सकते हैं ' इत्यादि। (मिताक्षरा)। स्थावर सम्पत्ति के विवादों में दिव्य का प्रयोग नहीं हो सकता—ऐसा पितामह का सिद्धान्त है। भूमि, वाक्पारुष्य, वेतनादान, द्यूत इन विषयों में दिव्य का प्रयोग नहीं होगा—ऐसा कात्यायन का सिद्धान्त है। गोप्य क्रियाओं ही में दिव्य प्रमाण हो सकते हैं—ऐसा मत व्यास का है। जहां दोनो पक्ष के साक्षी बराबर विश्वसनीय हैं, या जहां उपन्यस्त लेख कूट (जाली) पाया गया है—ऐसे सभी विवादों में दिव्य का प्रयोग होगा—ऐसा अपरार्क का मत है।

जहां किसी तरह का प्रमाण किसी पक्ष में नहीं है वहां राजा अपनी बुद्धि ही के अनुसार निर्णय करेगा (पितामह—माधव पृ० ६४)।

जब दो आदमी एक ही वस्तु का दावा एक ही समय में करें तो पहले उस वादी के साक्षी बुलाये जायंगे जिसका दखल पहले से होगा। (याज्ञ. २।१७)। जैसे एक जमीन एक आदमी—देवदत्त—को दी गयी-कुछ दिन उसका भोग कर के वह विदेश चला गया—इस बीच में वही जमीन दूसरे आदमी—यज्ञदत्त—को दे दी गई—वह भी कुछ दिन भोग कर के विदेश चला गया। कुछ दिनों के बाद दोनों लौटे और उस जमीन पर दावा किया। ऐसी स्थिति मे पहले देवदत्त के गवाह बुलाये जायंगे। पर यदि देवदत्त का 'पूर्वपक्ष' अंशतः स्वीकृत हो कर कमजोर हो गया हो तो प्रतिवादी ही के साक्षी पहले बुलाये जायंगे। अर्थात् उक्त मामले में यदि प्रतिवादी का उत्तर ऐसा हो—' यह सत्य है कि देवदत्त की यह भूमि थी, पर विदेश जाने के समय इसने राजा के हाथ बेच दी फिर राजा ने मुझे दी '— अथवा ' विदेश जाने के समय देवदत्त ही ने मुझे दे दी थी '। ऐसी स्थिति में यज्ञदत्त ही के साक्षी पहले बुलाए जायंगे।

याज्ञवल्क्य के वचन (२।१७) का ऐसा अर्थ मिताक्षरा में लिखा है। अपरार्क के मत में इस वचन का अर्थ यों है—जब दोनों वादी साक्षी के नाम लिखें तो पहले पूर्वपक्षी ही के साक्षी बुलाये जायंगे। और उत्तर पक्ष के साक्षी तभी बुलाये जायंगे जब पूर्वपक्ष 'अधरीभूत' हो जायगा—

अर्थात् उत्तर होने पर कुछ अंश में स्वीकृत होने से दब जायगा। दोनों पक्ष के साक्षी उन्हीं विवादों में हो सकेंगे जिनमें उत्तर का रूप 'प्रत्यव-स्कन्दन' या 'प्राङ्न्याय' होगा। जैसे किसीने कर्ज का दावा किया—प्रतिवादी ने उत्तर दिया 'मैं तो रुपया दे चुका'—तिस पर फिर वादी ने कहा 'तुमने रुपये दिये ठीक, पर वह तो दूसरे आदमी को देने के लिये न कि मेरे ऋण के चुकाने के लिये'। ऐसी स्थिति में दोनों पक्ष के साक्षियों की आवश्यकता होगी। विश्वरूप का कहना है कि ऐसी स्थिति में सम्भव है कि दोनों पक्षों से 'प्रत्यवस्कन्द' की अनन्त श्रेणी बंध जाय जिससे अनवस्था हो जाने से निर्णय असम्भव हो जाय। ऐसी स्थिति में जो धनी है सो पण करेगा और यदि अपना दावा सिद्ध कर सका तो ऋणी को दावा और पणद्रव्य दोनों देना होगा। जैसा याज्ञवल्क्य ने २।१८ श्लोक में कहा है। यह व्याख्या विश्वरूप की है। मिताक्षरा तथा अपरार्क के मत से इस श्लोक का पूर्व श्लोक के विषय से सम्बन्ध नहीं है—इसमें एक स्वतन्त्र ही नियम है—जो यों है—

यदि विवाद पणसहित है—अर्थात् हारने जीतने का बाजी लगाया गया है—जो वादी हार जाय उसे पणद्रव्य दावा का द्रव्य और दण्ड अय सब देना होगा (याज्ञ. २।१८)। 'पणसहित विवाद' वह है जिसमें क्रोध के आवेश में आकर एक वादी ने कह दिया हो कि 'यदि मैं हार जाऊं तो मैं १०० रुपये दूं'। पणद्रव्य और दण्ड राजा को दिये जायंगे और दावे का द्रव्य पूर्वपक्षी दावा करनेवाले को [विश्वरूप-सपरार्क]।

धन के प्रसंग में जितने विवाद हैं उन सभों में पीछे की क्रिया प्रबल समझी जाती है (याज्ञ. २।२३)। अर्थात् ऋण के व्यवहार में दो क्रियाएं होती हैं—ऋण का देना और ऋण का चुकाना। इन दोनों में ऋण का देना पहले होती है और ऋण का चुकाना पीछे। यद्यपि वादी (धनी) अपनी क्रिया ऋण देने को सिद्ध कर चुका—और प्रति-वादी (ऋणी) ने भी अपनी ऋण चुकाने को सिद्ध किया—दोनों के पक्ष सिद्ध हुए—पर जय ऋणी ही की होगी। क्योंकि उसकी क्रिया—ऋण चुकाना—पीछे हुई। फिर यदि पहले धनी ने पांच रुपया लेकरके

के दर सूद पर रुपया ऋण दी फिर पीछे दो रुपये सैकड़े के दर से; तो उसे जो डिग्री होगी सो दो रुपये के दर से, क्योंकि दो रुपयेवाली क्रिया पीछे हुई। (अपरार्क)।

पर बन्धक, दान, विक्रय इनमें पहली ही क्रिया बलवती समझी जाती है (याज्ञ. २।२३)। जैसे यदि देवदत्त ने पहले अपनी भूमि यज्ञदत्त के पास बन्धक रक्खी फिर रामदत्त के पास तो विवाद होने पर जय यज्ञदत्त ही की होगी।

विश्वरूप ने इस वचन (याज्ञ. २।२३) का अर्थ दूसरा ही किया है:- सब विवादों में 'पिछली क्रिया बलवती होगी'—अर्थात् प्रमाणों में जो सबसे पीछे कहा है—'दिव्य'—सो सबसे अधिक प्रामाणिक होगा। पर बन्धक इत्यादि के विषय में पहले जिसका नाम कहा है—अर्थात् लेख—सो ही सबसे अधिक प्रामाणिक होगा। अथवा जब परस्पर विरुद्ध कई लेख प्रमाण उपस्थित किये जांय तो सब से पिछला जो होगा वही प्रामाणिक माना जायगा। पर बन्धकादि विषय में सबसे पहला पुराना ही प्रामाणिक होगा।

भुक्ति के प्रामाणिकता के प्रसङ्ग याज्ञवल्क्य (२।२४) ने कहा है-- "यदि कोई दूसरे आदमी को (जो उसका सम्बन्धिक नहीं है) अपने सामने अपनी भूमि का भोग करते देखे और उसके प्रसंग में कुछ छेड़छाड़ न करे तो बीस बरस के बाद वह भूमि उसके हाथ से जाती रहेगी।" अर्थात् बीस बरस तक बिना कुछ बोले अपनी जमीन को जो बेदखल होने देता है वह उस जमीन को खो बैठता है। (याज्ञ. २।२४)। पर जङ्गम धन में दस ही बरस में स्वत्व जाता है (नारद ४।५,८)। मिताक्षरा (पृ. ३२५) के मत से इसका तात्पर्य इतना ही है कि वह आदमी उस भूमि से हाथ धो बैठता है। यह अर्थ नहीं है कि उसका स्वत्व एकदम चला जाता है। अर्थात् बीस बरस के बाद भी यदि वह नालिश करे और अपना स्वत्व सिद्ध करे तो वह भूमि उसे मिलेगी; पर गये बीस बरसों की उपज वह नहीं पा सकता। पर यह तभी होगा जब कि बेदखली उसे बराबर ज्ञात होगी। यदि उसे ज्ञात नहीं है तो वह बीस बरस के बाद भी उपज पाने का अधिकारी होगा। हर हालत

में बेदखल करनेवाला चोर की तरह दण्डित होगा (नारद ४।१४)। केवल दखल किसीका दूसरे के धन पर स्वत्व नहीं उत्पन्न कर सकता। पर यह उचित नहीं है कि अपनी भूमि को बेदखल होते देखते हुए भी उसमें कुछ बोले नहीं। 'हाथ से जाती रहेगी' इसका तात्पर्य इतना ही है कि उसके प्रसंग में वह अदालत में दावा नहीं कर सकता। ऐसे धन के विषय में राजा को उचित है कि या तो उसे राज्यगत करले या जो उसका असल स्वामी है उसे लौटा दे। पर अपरार्क के मत से उस धन पर से पूर्व स्वामी का स्वत्व ही जाता रहता है। और 'चोर की तरह दण्ड' जो नारद ने कहा है सो उन लोगों के लिये है जो बालक इत्यादि अप्राप्तव्यवहारों के धन को दखल करलें।

आधि (बन्धक)–सीमा–निक्षेप (धरोहर) के विषय में और बालक या पागल, राजा, स्त्री और श्रोत्रियों के धन के विषय में—२० वर्ष के बाद बेदखली का नियम नहीं लगता (याज्ञ. २।२५)। तथा (मनु ८।१४८–१४९) (अर्थशास्त्र ३।१६ जिसमें अति वृद्ध रोगी और चिर-प्रवासी भी कहे हैं)। इन विषयों में इस नियम के नहीं लगने का कारण यह है—सामान्यतः अपने धन को अपना जानते हुए कोई भी चुप-चाप दूसरे से भोगे जाते हुए नहीं देख सकता। यदि वह जानता है कि धन मेरा है तो वह कभी चुप नहीं रहेगा। टोकटाक अवश्य करेगा। इसीसे यदि २० वर्ष तक वह चुपचाप रहा तो यही सूचित होगा कि उसे अपने स्वत्व के विषय में सन्देह है। ऐसी स्थिति में स्वत्व की हानि उचित ही है। पर आधि के विषय में या बालक आदि के धन के विषय में चुप रहने के कारण हैं। आधि (बन्धक) इसी समझौता पर दिया जाता है कि 'जब तक मैं तुम्हारा रुपया नहीं चुका दूं तब तक तुम इस बन्धकवाली चीज़ का भोग करो'। ऐसी अवस्था में ऋणी ऐसे भोग के प्रसङ्ग में निषेध या टोकटाक कैसे कर सकता?—निक्षेप (धरोहर) इस समझौता पर रक्खा जाता है कि 'इसे तुम अपने पास रक्खो पर जब मुझे लौटाना तो जैसी दशा में मैं दे रहा हूं वैसी ही दशा में लौटाना; नहीं तो इसका मूल्य सूद समेत तुम्हें देना होगा।" ऐसी स्थिति में यदि जिसके पास धरोहर रक्खा है सो उस वस्तु का भोग करता है तो उसका मालिक यह समझ कर उसका विरोध या छेड़छाड़ नहीं करेगा

कि "भोग करता है तो करने दो यदि मेरी वस्तु में किसी प्रकार की खराबी नहीं आई तो हर्ज ही क्या है। यदि खराबी आई तो सूद लगा कर मूल्य इसे देना होगा—मैं अभी क्यों छेड़छाड़ करूँ"। बालक और पागल तो छेड़ छाड़ कर ही कैसे सकते ? स्त्रियां एक तो अपना स्वत्व नहीं जानतीं, यदि जानती भी हैं तो स्वभावतः वे ऐसी लज्जाशील होती हैं कि अपने धन के प्रसङ्ग में किसीसे छेड़छाड़ करना उनके लिये असम्भव हो जाता है। राजा अपने राजकाज ही में ऐसा व्यग्र रहता है कि अपनी निजी सम्पत्ति का देखभाल करने का अवसर कम मिलता है। इसी तरह विद्वान् ब्राह्मण बेचारे अपने विद्याभ्यास और धर्मानुष्ठानों में ऐसे मग्न रहते हैं कि उनको अपनी सम्पत्ति की सुध कहां से आ सकती है ! सीमा के प्रसङ्ग लोग प्रायः सीमा चिह्नों पर इतना निर्भर रहते हैं कि उनको विश्वास रहता है कि 'जब कभी विचार होगा तब चिह्नों द्वारा मेरी सीमा ठीक ही हो जायगी—फिर अभी थोड़ी सी बात के लिये झगड़ा क्यों मचाऊं'।

मनु (८।१४) तथा अर्थशास्त्र (३।१६) में दस ही बरस के बाद बेदखली को सिद्ध कहा है। "यदि कोई अपने धन को दस बरस तक दूसरों से भोगा जाता देख कर भी चुप रहे तो वह उस धन को फिर नहीं पा सकता"। 'चुप' रहने से यह मतलब है कि भोग करनेवाले को कुछ न कहे और राजा के पास नालिश भी न करे,—और 'दूसरों' का अर्थ है पराया, जिससे कोई सम्बन्ध नहीं है। पर यदि मैत्रीभाव से एकका धन दूसरा भोगे तो स्वत्व नहीं लुप्त होता [मनु ८।१४६]।

मधन्क इत्यादि का अपहरण कोई करे तो उसे उस धन के मालिक को उसका मूल्य देना होगा और राजा के पास जुरमाना भी उसी मूल्य के बराबर देना होगा (याज्ञ. १।२६) पर यदि अपहर्त्ता अधिक धनवान है तो जुरमाना अधिक होगा जिससे उसको वह 'दण्ड' समझे। इसी तरह यदि वह गरीब है तो जुरमाना कुछ कम देना होगा। दण्ड का तात्पर्य यही है कि दण्डित को शिक्षा मिले और फिर वह वैसा काम न करे। जहां अपहर्त्ता बिलकुल गरीब है जुरमाना दे ही नहीं सकता

तब उसका शरीरदण्ड ही होगा अर्थात् कैद किया जायगा या काम करवाया जायगा (मिताक्षरा पृ० १३१)। प्रायः इन्हीं नियमों के आधार पर कौटिल्य का नियम है कि यदि एक किरायादार लगातार बीस बरस एक मकान में रह चुका तो वह उससे हटाया नहीं जा सकता। पर यह नियम लागू नहीं होगा यदि रहनेवाला मकान के मालिक का सम्बन्धी है या श्रोत्रिय है (अर्थशास्त्र ३।१६)।

'भोग' (Possession) और 'आगम' (Title) के प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त है –(२।२७)।

आगमोऽभ्यधिको भोगात्–

इस वाक्य के अर्थ में बड़ा मतभेद है। विश्वरूप के अनुसार 'आगम भोग से अधिक बलवान् है क्योंकि आगम निश्चित है।' अपरार्क के अनुसार–' भोग के अतिरिक्त आगम भी प्रमाण है अर्थात् भोग के भरोसे किसीके स्वत्व निर्णय करने में आगम भी एक सहायक प्रमाण होता है '। मिताक्षरा के अनुसार–' स्वत्व के निश्चायकों में आगम भोग से अधिक बलवान् है–क्योंकि नारद के वचन के अनुसार आगम ही के बल से भोग प्रमाण होता है '।

विश्वरूप के मत से 'आगम' पद का अर्थ है 'लेख' कागज़ी सबूत। पर और सभोंके मत से जिससे स्वत्व (हक़) उत्पन्न हो उसे 'आगम' कहते हैं। स्वत्व के उत्पादक हैं–'दाय (जिससे पिता के धन में पुत्रों का स्वत्व होता है) –संविभाग, बाँट, (जिससे साधारण धन के अंशों में विभाग के बाद एक एक व्यक्ति का स्वत्व होता है)—क्रय (खरीद)–परिग्रह (जङ्गलों में अस्वामिक वस्तुओं का पाना)–अधिगम (जमीन के भीतर अस्वामिक धन का पाना)—ये चारों सब वर्णों के लिये, इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों के लिये 'प्रतिग्रह' (दान लेना), क्षत्रियों के लिये 'विजित' (लड़ाई में जीतना) वैश्यों के लिये खेती और व्यापार, और शूद्रों के लिये सेवा (गौतम)॥ आगम भोग से अधिक बलवान् है, क्योंकि बिना आगम सिद्ध हुए केवल भोग असिद्ध अर्थात् अप्रामाणिक रहता है। केवल भोग स्वत्व को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नारद के वचन (४।१८) से स्पष्ट है।

इन्हीं कारणों से भोग प्रमाण तभी माना जा सकता है जब-(१) उसका साधक आगम है (२) वह बहुत दिन तक एक क्रम से स्थिर रहा है-(३) जिस के प्रति कभी विरोध नहीं किया गया है-और ४) जिसको बराबर प्रतिवादी भी जानता आया है।

आगम के बिना भोग का प्रमाण दूषित उन्हीं विषयों में समझा जाता है जो स्मरणयोग्य काल के भीतर हो। यदि स्मरणयोग्य काल से अधिक पुराना भोग है तो वैसी अवस्था में आगम नहीं ज्ञात होने पर भो भोग प्रामाणिक समझा जायगा। जैसे यदि यह सिद्ध हो जाय कि कोई धन १०० बरस से अधिक एक कुल के हाथ बराबर रहा है तो आगम (दस्तावेज इत्यादि) नहीं होने पर भी उस कुल का स्वत्व उस धन पर प्रामाणिक समझा जायगा। पर यदि इस समय मे बराबर लोगों में ऐसी भावना रही हो कि यह भोग अनुचित और विना आगम हो रहा है तो ऐसी स्थिति में भोग का प्रामाण्य दूषित हो जाता है।

(मिताक्षरा)।

आगम में भी पूर्ण प्रमाणबल नहीं है यदि भोग एक दम नहीं है [याज्ञ. २।२७]-क्योंकि भोग ही से आगम की पुष्टि होती है। इसका कारण यह कि आगम के जितने द्वार हैं-दान, क्रय इत्यादि-सबों ही में भोग का लेश आ ही जाता है। जैसे गाय का दान तब तक सम्पन्न नहीं होता जब तक दान लेनेवाला उसकी दुम पकड़ कर उसको अपना नही लेता। नारद ने तो यहां तक कह दिया है कि-'लेख प्रमाण है साधक साक्षी है तथापि यदि भोग नहीं है तो स्वत्व सबल नहीं हो सकता---विशेष कर स्थावर धन के विषय में'।

याज्ञवल्क्य के वचन (२।२७) का मिताक्षरा (पृ० ३५१) में एक दूसरा अर्थ भी लिखा है। लेख, साक्षी, भोग ये तीन प्रमाण कहे गये हैं। जहा ये तीनो उपस्थित हैं वहा इनके परस्पर बलाबल का विचार इस वचन में किया गया है। सिद्धान्त यह कि (१) यदि एक तरफ साक्षियों से प्रमाणिक आगम है और दूसरी ओर साक्षी, तो पहला ही पक्ष प्रमाणित समझा जायगा। (२) जहां तीन पुरुष (पुश्त) तक भोग बिला रोक टोक चला आया और चौथे पुश्त में

विवाद पेश हुआ और विवादी के पक्ष से लेखप्रमाण से प्रमाणित आगम सिद्ध किया गया तो पूर्वोक्त चिरकालीन भोग ही प्रामाणिक समझा जायगा। (३) दूसरे या तीसरे पुश्त में एक तरफ किञ्चित् भोग से उद्भलित आगम पेश किया जाय और दूसरी ओर से भोग-रहित आगम तो पहला ही पक्ष प्रामाणिक होगा।

आगम और भोग के बलाबल के विषय में मेधातिथि (८।१४७) का सिद्धान्त यों है।—(१) यदि आगम नहीं है पर तीन पुश्त से भोग चला आया है तो बीस बरस बीते हैं या नहीं जिसका भोग रहा है उसका स्वत्व सिद्ध हो जाता है। (२) कुछ स्मृतिवाक्य ऐसे हैं जिनके अनुसार पहले पुश्त में स्थावर धन के स्वत्व का मूल केवल आगम है—दूसरे पुश्त में भोग सहित आगम—तीसरे पुश्त में केवल भोग और यहां भी २० बरस का नियम नहीं है। (३) कुछ और स्मृतियों के अनुसार केवल भोग से स्वत्व नहीं हो सकता—सौ बरस तक भी भोग क्यों न हो। पर यह पहले ही पुश्त के लिये कहा गया है। इन सब वाक्यों का निचोड़ यह है कि—(१) पहले पुश्त में केवल भोग से स्वत्व नहीं होता, बहुत बरसों का भी भोग हो तो भी नहीं (२) दूसरे पुश्त में भी यही नियम रहेगा। (३) दूसरे पुश्त के बाद यद्यपि भोग करनेवाला आगम न भी सिद्ध कर सके तो भी चिरकालीन भोग से स्वत्व उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि बहुत दिन बीत जाने पर आगम के साधन साक्षी या लेख का उपस्थित करना असम्भव हो जाता है और चिरकालीन भोग से यह अनुमान कर लिया जाता है कि आगम अवश्य रहा होगा। इन्हीं कारणों से भोग को स्वत्व का 'प्रमाण' माना है, 'मूल' नहीं। 'मूल' केवल 'दाय, क्रय, जय, कुसीद, कृषि, वाणिज्य दान' माने गये हैं। इसका और विचार आगे चल कर होगा।

अर्थशास्त्र के अनुसार जहां लेख या साक्षी नहीं हैं तहां स्वत्व का प्रमाण केवल भोग ही हो सकता है (अर्थशास्त्र ३।१६)।

जब किसीने एक सम्पत्ति पर आगम प्राप्त कर लिया है—जब कभी इस आगम के प्रसङ्ग शंका उपस्थित हो तो उसका सिद्ध करना उसको

आवश्यक होगा। यदि वह सिद्ध नहीं कर सके तो केवल वह धन ही नहीं उसके हाथ से जायगा उसके ऊपर से उसे दण्ड भी देना होगा (याज्ञ. २।२८)।

विश्वरूप के मत से यह वचन आगम के सम्बन्ध में नहीं है— लेख के सम्बन्ध में है।

आगम सम्पादन करनेवाले के मर जाने पर यदि आगम पर शंका उठायी जाय तो उसके पुत्र को उस आगम का सिद्ध करना आवश्यक नहीं होगा। इनको केवल इतना हीं सिद्ध करना होगा कि बराबर बिला रोक टोक या किसी शका के भोग इनका रहा। और इनका दण्ड तभी होगा यदि ये ऐसा भोग नहीं सिद्ध कर सकें और फिर वह धन भी इनके हाथ में नहीं रह सकता—(याज्ञ. २।२८)।

यदि तीसरे पुश्त में आगम पर शंका की जाय तब आगम का सिद्ध करना आवश्यक नहीं होगा— निरन्तर निरर्गल, चिरकालीन भोग भी नहीं सिद्ध करना होगा–सिद्ध करना होगा केवल भोगमात्र (याज्ञ. २।२८), और ऐसी स्थिति में धन उसीके हाथ रहेगा।

ऐसा सीधा अर्थ याज्ञवल्क्य के वचन (२।२८) का भासित होता है। विश्वरूप का मत ऐसा ही है। पर मिताक्षरा ने इसका अर्थ बिलकुल बदल दिया है। मिताक्षरा (और अपरार्क के मत से भी) इस वाक्य का अर्थ यह है "कि आगम के उपार्जन करनेवाले के पुत्र और पौत्र को भी आगम सिद्ध करना आवश्यक है। यदि न कर सकें तो इनके हाथ से भी धन जाता रहेगा। भेद इतना ही है कि उपार्जक को इसके ऊपर से दण्ड भी देना होगा उसके पुत्र-पौत्र को दंड नहीं देना होगा।" अपरार्क का कहना है कि यह नियम उस अवस्था के लिये है जब स्मरणयोग्य काल से अधिक काल तक भोग चला आया है। अर्थात् कई पुश्त से या ६० बरस से (नारद के अनुसार)–भोग बराबर बना रहा है। नारद ने 'एक पुश्त' का समय २० बरस माना है। इसके अनुसार यदि ६० बरस से अधिक भोग रहा है तो यह 'स्मरण काल से अधिक' हुआ। इस लिये ऐसी स्थिति में 'आगम' की खोज नहीं होनी चाहिये। अपरार्क का कहना है कि ६० (या १००) बरस

तक यदि निरर्गल भोग बना रहा तो उसमें 'आगम' के दोष की शंका नहीं उठ सकती। पर यदि शङ्का उठी और आगम में दोष पाया गया तो भोगी को उचित होगा कि धन को छोड़ दे क्योंकि आगम के दुष्ट होने से पहले पुश्त का भोग अप्रामाणिक या दुष्ट सिद्ध हुआ। फिर इसी आधार पर दूसरे तीसरे पुश्त का भी भोग दुष्ट ही ठहरा। पर दण्ड भोग करनेवाले को केवल पहले ही पुश्त में होगा उसके बाद नहीं।

२८ श्लोक के बाद एक श्लोक विश्वरूप के मूल में पाया जाता है जो मिताक्षरा या अपरार्क में नहीं है। वह यों है—"आगम का सिद्ध करना आवश्यक है। बिना उसके उपार्जक का लड़का भी धन नहीं रख सकता; क्योंकि आगम ही से भोग प्रमाणित होता है। बिना आगम के भोग प्रमाणित नहीं हो सकता।"

यदि उपार्जक के जीवन समय ही में आगम में शङ्का हो चुकी और व्यवहार प्रवर्तित हो चुका और विचार या निर्णय होने के पहले ही उपार्जक मर गया तो उस आगम को सिद्ध करना उसके उत्तराधिकारियों का कर्तव्य होगा (याज्ञ. २।२९)। ऐसी स्थिति में निरा भोग प्रामाणिक नहीं हो सकता क्योंकि आगम शङ्कित हो जाने के कारण भोग का बल दुर्बल हो चुका। (नारद ४।२२)।

विवादों का विचार 'धर्मशास्त्र' तथा 'अर्थशास्त्र' के अनुसार होगा (यम)। चारों वेद सांग, मीमांसा तथा स्मृति ये 'धर्मशास्त्र' हैं (पितामह)। राजतन्त्र विद्या को 'अर्थशास्त्र' कहते हैं (भविष्य-पुराण)। स्मृतियों में सबसे बलवान् प्रमाण मनुस्मृति है (अपरार्क—याज्ञ. २१)। विवादों के विचार में अर्थशास्त्र के उतने हीं अंशों का उपयोग होगा जो धर्मशास्त्र के विरुद्ध नहीं हैं। जो विरुद्ध हैं वे हेय हैं। "अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्म्मशास्त्रमिति स्थितिः" (याज्ञवल्क्य तथा नारद)। जहां दो धर्मशास्त्र वचनों में विरोध है वहां तर्क से निर्णय होगा (याज्ञ. २।२१)। तर्क का एक दम परित्याग अनुचित है—(बृहस्पति)। तर्क और अनुमान की उपयोगिता पर मनु ने भी जोर दाला है 'नयेत् तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्। 'धर्मशास्त्र' और

'अर्थशास्त्र' के विरोधक दृष्टान्त—अर्थशास्त्र का सिद्धान्त है कि 'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलाभो विशिष्यते'—अर्थात् मित्र का लाभ सोना और भूमि के लाभ से अधिक है। धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि विवाद निर्णय करने में राजा का निष्पक्षपात रागद्वेषरहित होना चाहिये। राजा के सामने कोई विवाद उपस्थित हुआ जिसमें एक वादी बड़ा धनवान पुरुष है। अब यदि राजा इस धनवान् का पक्षपात करता है तो उसे एक धनवान् मित्र मिलजाता है जो अर्थशास्त्र के अनुसार बड़ा इष्ट है, पर बड़ा अधर्म होता है। ऐसी स्थिति में राजा को मित्रलाभ का लोभ छोड़ कर निष्पक्षपात होकर यथार्थ न्याय करना चाहिये।

'अर्थशास्त्रात्तुबलवद् धर्मशास्त्रमितिस्थितिः' इस याज्ञवल्क्यीय वचन का ऊपर कहा हुआ तात्पर्य अपरार्क तथा मिताक्षरा के अनुसार है। पर विश्वरूप ने यह अर्थ नहीं माना है। उनके मत से वाक्य का अर्थ ऐसा है—'जब धर्मशास्त्रवाक्यों के अनुसार एक तरह का सिद्धान्त सूचित हो और विवाद के विचार के अवसर में जितने वृत्तान्त हुए हैं उनके आधार पर अनुमान करने से दूसरी तरह का सिद्धान्त सूचित हो तो ऐसी दशा में धर्मशास्त्र के अनुसार ही जो सिद्धान्त है उसीका स्वीकार करना क्योंकि तर्कशास्त्र लौकिकविषयक है और धर्मशास्त्र परमार्थविषयक।

विवादों के विचार में केवल धर्मशास्त्रों ही पर निर्भर होने से काम नहीं चलता। जातिधर्म, जनपदधर्म, श्रेणीधर्म, कुलधर्म—इनका भी विचार आवश्यक है (मनु ८।४१)॥ यदि किसी विचार में धर्मशास्त्रों से मदद न मिले तो चिरकालीन आचारों का ही सहारा लेना होगा। पर ये आचार ऐसे हों जो धर्मशास्त्रविरुद्ध न हों (कात्यायन)। जहां दोनों वादी एक ही गांव या एक ही शहर या एक ही जाति के हैं तहां देशाचार के अनुसार निर्णय होगा। पर जहां भिन्न देश या भिन्न जाति के हैं तहां शास्त्रों ही के आधार पर। बनियों के बीच, कारीगरों के बीच, खेतिहरों के बीच, गवैयों के बीच, यदि विवाद हो तो उन्हींकी श्रेणी से तत्त्वानुसन्धान कराना उचित होगा॥ घरेलू झगड़ों का अनुसन्धान घर के मुख्य या गुरु के द्वारा होना चाहिये। (व्यास)।

मनु (८।४५) में लिखा है—

सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणम् ।
देशं कालं च रूपं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥

अर्थात् व्यवहार के विचार करने के समय राजा के इन बातों का विचार करना आवश्यक है—असली वृत्तान्त क्या है (जिसका व्यवहार-काल के सब बातों से अनुमान किया जा सकता है)--(२) वादियों के हृदयगत उद्देश्य, (३) राजा की अपनी स्थिति (४) साक्षियों का स्वभाव, (५) देश के लक्षण । (६) काल के लक्षण ॥

इसी विषय में याज्ञवल्क्य का वचन है—'छलं निरस्य भूतेन व्यवहारन्नयेन् नृपः ।' (२।१९)

अर्थात् विचार के प्रसंग में वादियों की ओर से जितने 'छल'—तर्क वितर्क युक्ति कुयुक्ति के प्रयोग किये जांय उनकी ओर ध्यान नहीं देना, केवल यथार्थ विषय क्या है इसीके अनुसन्धान में दत्तचित्त रहना चाहिये । कुछ लोगों के मत से इस वाक्य का अर्थ यह है कि पहले साक्षी इत्यादि प्रमाणों का पीछा छोड़ कर यथार्थ विषय जानने के लिये और तरह के अनुसन्धान उचित हैं । इनसे तत्त्व का पता नहीं चले तभी साक्षी इत्यादि का अन्वेषण करना । अपरार्क के मत से याज्ञवल्क्य का आशय यह है कि सबसे पहले दोनों वादियों ही की परीक्षा से तत्त्व निकालने का यत्न करना । यदि इसमें सफलता न हो तो विचारप्रणाली प्रारम्भ करना ॥

मत्त, उन्मत्त, आर्त्त, परतन्त्र, रोगी, बालक, परमवृद्ध, अनधिकृत पुरुष—इनकी की हुई व्यवस्था या व्यवहार प्रामाणिक नहीं हो सकता । शास्त्र या आचार के विरुद्ध आपस का समझौता,–प्रमाणो से सिद्ध भी हो तौ भी, प्रामाणिक नहीं हो सकता । मिथ्या बन्धक, मिथ्यादान, मिथ्यास्वीकार, या कोई भी व्यवहार जिसमें कहीं भी ठगाई पाई जाय, तो वह रद्द कर दिया जायगा । पर यदि परतन्त्र पुरुष (दास) भी अपने मालिक के कुटुम्ब के लिये जो कुछ व्यवहार करे, घर के मालिक को उसे स्वीकार करना चाहिये (मनु ८३ । ६८) ।

बल (जबर्दस्ती) से, या धमकी से या छल से किये व्यवहार को, यदि सम्पन्न भी हो गये हों तो भी–रद्द करना । इसी तरह स्त्रियों के साथ या

रात में या घर के भीतर या गांव के बाहर छिप कर या शत्रुओं के साथ जो व्यवहार किये गये हों। (याज्ञ. २।३१)।

मत्त, पागल, रोगी, शोकार्त, बालक, डरा हुआ, देश से निकाला हुआ—इनके किये व्यवहार प्रामाणिक नहीं होंगे। दूसरेके बदले बिना अधिकार के यदि कोई व्यवहार करे तो वह भी प्रामाणिक नहीं होगा (याज्ञ, २।३२)। दूसरेका अधिकार भी वैसी ही स्थिति में हो सकता है जहां मुख्य व्यवहारी अधिक लज्जाशील, जड़, पागल, अतिवृद्ध, स्त्री या रोगी है॥ फौजदारी में इस तरह का अधिकार नहीं चल सकता। अधिकृत पुरुष, भृत्य, शिष्य सम्बन्धी इनके अतिरिक्त यदि और कोई किसी के व्यवहार में हस्तक्षेप करे तो उसे दंड देना होगा (अपरार्क पृ० ६३६)

कुछ स्मृतिवाक्य ऐसे पाये जाते हैं जिनके अनुसार गुरु-शिष्य के बीच, पिता-पुत्र के बीच, पतिपत्नी के बीच, स्वामी-दास के बीच विवाद (मुकदमा) नहीं चल सकता। पर मिताक्षरा का (पृ० ३६१-३६२) कहना है कि इन वाक्यों का तात्पर्य इतना ही है कि जब कभी ऐसे विवाद उपस्थित हों तो राजा या जज को उचित है कि विवाद उपस्थित करने-वाले को समझा बुझाकर आपस में तै हो जाय इसका पूरा प्रयत्न करें-यदि यह प्रयत्न निष्फल हो तो व्यवहार यथाक्रम चलेहीगा।

नारद का वचन है कि एक आदमी अनेक आदमियों के विरुद्ध विवाद नहीं चला सकता। पर इसका तात्पर्य यही समझा गया है कि एक काल में एक साथ ही अनेक अभियुक्तों का साथ साथ विचार नहीं हो सकता।

प्रणष्ट द्रव्य यदि राजकीय पुरुषों द्वारा कहीं पाया जाय तो राजा को उचित है कि उसके स्वामी का पता लगा कर उसे देदें। यदि स्वामी अपना स्वत्व सिद्ध न कर सके तो उस द्रव्य के मूल्य के बराबर दण्ड देना होगा (याज्ञ. २।३३) (मनु० ८।३२)।

पाये जाने के तीन बरस के भीतर यदि स्वामी आवे तभी उसे नष्ट द्रव्य दिया जायगा। उसके बाद वह राजा का हो जायगा। (मनु० ८।३०)। एक साल के भीतर यदि स्वामी मांगने आवे तो यदि वह

द्रव्य का नाम, आकार, स्वरूप, परिमाण, संख्या, स्थान इत्यादि यथार्थ वर्णन करके अपना स्वत्व सिद्ध कर सके तो यथावत् द्रव्य सब उसे देना चाहिये। यदि दूसरे या तीसरे वर्ष आवे तो द्रव्य का कुछ अंश शुल्करूपेण काट लिया जायगा। यह शुल्क द्वितीय वर्ष में द्रव्य का बारहवां हिस्सा और तृतीय वर्ष में चौथा हिस्सा होगा। तीन बरस के बाद भी राजा उस द्रव्य का केवल उपयोग करेगा और यदि स्वामी आजाय तो उसे देदेना ही उचित होगा। राजकीय शुल्क जो चतुर्थांश लिया जायगा उसका चौथा हिस्सा उस आदमी को दिया जाय जिसने उस द्रव्य को पाया था। यदि स्वामी कोई नहीं ही आवे तो द्रव्य राजाही का रह जायगा। चतुर्थांश पानेवाले को मिलेगा। मनु० (८। ३३) ने प्रणष्टाधिगत द्रव्य में राजा का अंश छठा, दसवा या बारहवां हिस्सा बतलाया है। 'तीन बरस के बाद भी द्रव्य राजा का नहीं होजायगा—राजा केवल उसका उपयोग कर सकेगा'— इस पक्ष का मेधातिथि ने खडन किया है। उनके मत से राजा उसका स्वामी ही हो जाता है।

जो आदमी उस द्रव्य का स्वामी बन कर उपस्थित हुआ वह यदि अपना स्वत्व न सिद्ध कर सका तो उसे द्रव्य के मूल्य के बराबर दंड देना होगा। (मनु ८। ३२)। अर्थशास्त्र (पृ० ६६) के अनुसार मूल्य का पंचमांश ही दंड देना होगा।

खोई हुई चीज को पाकर यदि राजा को सूचित किये बिना कोई उसे दूसरे आदमी को दे तो उसे ६६ पण जुर्माना देना होगा। (याज्ञवल्क्य २। १७२)।

खोई हुई चीज़ यदि कोई तलाश कर दे तो उसके मालिक को उस आदमी को पुरस्कार देना होगा। ४ पण, यदि एक खुरवाला जानवर खोया हो— ५ पण यदि दास खोगया हो— २ पण गाय भैंस या ऊंट के पाने पर— एक पण का चतुर्थांश बकरी या भेड़ी को पाने पर (याज्ञवल्क्य २। १७४)

भूमि के भीतर गड़ा हुआ निधि यदि राजा को मिले तो आधा ब्राह्मणों को देकर आधा स्वयं लेगा (मनु ८। ३८)। यदि विद्वान् ब्राह्मण ने पाया तो सब उसीका होगा (मनु ८। ३७)। यदि और किसीने

पाया तो राजा उसका छठां अंश लेगा [अथवा अपरार्क के अनुसार छठा अंश राजा पानेवाले को देगा]। ऐसे धन को पाकर यदि कोई राजा को सूचित न करे तो जब राजा को खबर मिलेगी पानेवाला कुलधन राजा को देगा और अतिरिक्त उसका दंड भी होगा (याज्ञ० २।३४-३५)

गड़े हुए निधि का स्वामी यदि उपस्थित हो तो उसे अपना स्वत्व प्रमाणित करना होगा। यदि प्रमाणित कर सका तो धन उसे मिलेगा केवल छठा या बारहवां अंश राजा राजकीय अंश लेलेगा। (मनु ८। ३५)

भूमि के भीतर का सब धन राजा का है, उसको छोड़ कर जिसे धर्मिष्ठ ब्राह्मण ने पाया हो। ऐसा गौतम का सिद्धान्त है (१०। ४३)। पर यह नियम वैसेही धन के लिये है जिसका स्वामी अथवा गाड़नेवाला ज्ञात नहीं है—ऐसा मेधातिथि (मनु ८। ३५) का मत है। 'पानेवाले को छठा हिस्सा मिलेगा' इस नियम के प्रसंग में मेधातिथि का मत है कि यह उसी हालत में दिया जायगा यदि पानेवाला वही है जिसने गाड़ा था या उसीका कोई उत्तराधिकारी।

यदि स्वामी अपना स्वत्व प्रमाणित न कर सका तो क्या उसे अपने निजी धन का अष्टमांश क्या गड़े हुए धन ही के हिसाब से दण्ड देना होगा (मनु. ८।३६)।

विष्णु के नियम यों हैं (३।५८-६२)—जमीन के भीतर का धन यदि ब्राह्मण पावे तो सभी उसीका रहेगा। यदि क्षत्रिय पावे तो चतुर्थांश राजा का होगा, चतुर्थांश ब्राह्मणों का, बाकी पानेवाले का। यदि वैश्य पावे तो चतुर्थांश राजा का होगा, आधा ब्राह्मणों का, बाकी पानेवाले का। यदि शूद्र पावे तो धन बारह हिस्सों में बांटा जायगा— पांच हिस्से राजा के होंगे, पांच ब्राह्मणों के, बाकी दो हिस्से पानेवाले का। यदि पानेवाला राजा को सूचित न करे तो पकड़े जाने पर सब धन उसे राजा को दे देना होगा॥ याज्ञवल्क्य (२।३५) के मत से इसके अतिरिक्त उसे जुरमाना भी देना होगा।

चोरी का धन, मिलने पर, स्वामी को देदिया जायगा। यदि धन न मिल सका तो स्वामी को उतना धन राजा अपने कोश से देगा। (मनु ८।४०; यज्ञ. २।३६ विष्णु ३।६६-६७)। जिस अफसर के

इलाके में चोरी हुई है उस अफसर को उतना धन मालवाले को देना होगा (आपस्तम्ब २।२६।८)। नारद (६।२०) ने कहा है कि यदि किसीके घर में चोरी हुई है तो उस प्रान्त में राजा के अफसर चोरी रोकने के लिये और लोगों की रक्षा के लिए नियुक्त हैं उन्हें और आस पास के लोगों को उतना धन उस आदमी को देना होगा—यदि चोर न पकड़ा जाय।

बालक, या और किसी प्रकार से जो व्यवहार के योग्य नहीं है, उसके धन की रक्षा के प्रसंग में मनु ने कहा है—'जबतक बालक का विद्याध्ययन सम्पन्न नहीं हो चुका है, या जबतक वह प्राप्तव्यवहार (बालिग) नहीं हुआ है, तब तक उसके धन की रक्षा राजा करेगा मनु (८।२७) तथा (गौतम १०।४८)। इसी तरह वन्ध्या स्त्री, पुत्रहीन स्त्री, जिस स्त्री के वंश में कोई नहीं है, धर्मपरायण स्त्री जिसका पति विदेश चलागया या मर गया, रोगिणी स्त्री—इनकी भी रक्षा राजा करेगा (मनु ८।२८)। ऐसी स्त्रियों के धन को जो उसके सम्बन्धी अपनावें उनका दंड चोर की तरह राजा करेगा (मनु ८।२९)। नाबालिगों के धन की रक्षा राजा करेगा। उनके बालिग होने पर धन उन्हें सौंप दिया जायगा (वसिष्ठ १६।८)॥ जो अपना काम नहीं सम्हाल सकते हैं—श्रोत्रियों की स्त्री, योद्धाओं की स्त्री—इनके धन की भी रक्षा राजा करेगा ऐसा शंखलिखित का वचन है (विवादरत्नाकर पृ-५९६)।

निर्णय

पूर्वपक्षवादी (मुद्दई) यदि अपना पक्ष प्रमाणित कर दे तो उसकी जय होगी और उसे जयपत्र (Decree) मिलेगा। यदि वह प्रमाणित नहीं कर सका तो वह 'हीन' (हारा हुआ) समझा जायगा (मिताक्षरा. पृ. २६६)।

निर्णय चार प्रकार के माने गये हैं–(१) धर्मेण निर्णय–जिसमें प्रतिवादी (मुद्दालह) ने धर्मबुद्ध्या दावा को स्वीकार कर लिया है। (२) व्यवहारेण निर्णय जिसमें विवाद का सांग विचार होने पर एक पक्ष साक्षी आदि प्रमाणों द्वारा प्रमाणित हुआ है। (३) चरित्रेण निर्णय–जिसमें अनुमान से निर्णय हुआ है। (४) राजाज्ञया निर्णय–जिसमें दोनों

पक्ष के प्रमाण तुल्यबल होने के कारण सभा निर्णय करने में असमर्थ हुई और राजा ने अपने विचार के अनुसार निर्णय कर दिया, पर यह निर्णय सभा के विचार के विरुद्ध नहीं होना चाहिये (वृहस्पति–पराशर माधव पृ० १५०)

निर्णय उद्घोषित हो जाने पर विवादग्रस्त धन जिसकी जय हुई उसे दे दिया जायगा;-साथ साथ उसे जयपत्र भी मिलेगा। जिस विवाद में ऋणी ने ऋण का अस्वीकार किया है उसमें यदि निर्णय उसके विरुद्ध हुआ तो उसे ऋण चुकाना होगा और दण्ड भी देना होगा जिसकी संख्या विवादस्थ धन का बीसवा हिस्सा होगी (नारद) । पर ऐसा माना गया है कि यह अल्प दण्ड ऐसी स्थिति के लिये है जहां ऋणी की अवस्था अच्छी नहीं है। विष्णु का सिद्धान्त है कि दावा का छठवां हिस्सा ऋणी दंड देगा और धनी (जिसने ऋण दिया था) वह भी दावा का बीसवां हिस्सा राजा को सभा के खर्च के लिये देगा बतौर Court fee —(पराशर माधव पृ० १५२)।

जिस मामले में मुद्दई ने कई चीजों का दावा किया—सोना चांदी कपड़े इत्यादि—और कुल दावा मुद्दालह ने अस्वीकार किया; यदि विचार होने पर मुद्दई इनमें से कुछ अंशों को प्रमाणित कर सका; सब को नहीं, तब भी मुद्दालह को कुल दावा देना होगा [विश्वरूप के मत से ऊपर से कुछ दण्ड भी]— (याज्ञ. २।२०)। इसका कारण यह है कि यदि कुछ अंशों में दावा सत्य है तो सभी अंशों में सत्य होगा और यदि उत्तर कुछ अंशों में मिथ्या ठहरा तो कुल अंशों में मिथ्या होगा। इससे यह स्पष्ट है कि निर्णय करने में जज को तर्क–अनुमान से भी काम लेना चाहिये। ऐसा गौतम (११,३-२४,३२) ने स्पष्ट कहा भी है। कात्यायन प्रभृति कुछ स्मृतिकारों का मत है कि ऐसी स्थिति में जितना अंश प्रमाणित हुआ है उतना ही मुद्दई को मिलेगा। पर निबन्धकारों ने इस वचन को उन विवादों के लिये माना है जिनमें पिता के ऋण के लिये पुत्र अभियुक्त है, और पुत्र ने अस्वीकार एकदम नहीं किया है इतना ही कहा है, कि ऋण उसे ज्ञात नहीं है। इसलिये यदि कुछ ही अंश ऋण का प्रमाणित हुआ तो पुत्र को उतना ही देना होगा। वह झूठा साबित नहीं हुआ इसलिये दण्डरूपेण उसे अप्रमाणित

ऋण नहीं देना होगा। अपरार्क ने कहा है कि दावा का अप्रमाणित अंश उसी स्थिति में देना होगा यदि मुद्दालह का उत्तर और विचार के प्रसङ्ग—विचारों में सब व्यवहार उद्धृत रहा हो। फौजदारी में अभियोग का कुछ भी अंश प्रमाणित हुआ तो कुल प्रमाणित समझा जायगा। पर अपरार्क के मत से अप्रमाणित अंश का उतना ही भाग प्रमाणित समझा जायगा जितना प्रमाणित भाग से सम्बद्ध है। जैसे यदि इतना सिद्ध हो जाय कि एक पुरुष परस्त्री के साथ एक पलंग पर सोया था—तो साक्षात् प्रमाणित नहीं भी होने पर व्यभिचार प्रमाणित समझा जायगा। यदि अपने दावे को सिद्ध कर के मुद्दई फिर से कुछ दावा उसमें जोड़ना चाहे तो यह दावा पूर्व दावा के साथ प्रमाणित नहीं समझा जायगा।

(याज्ञ. २।२०)

ऋणी ने यदि ऋण अस्वीकार किया हो, धनी ने यदि मिथ्या दावा किया हो, तो दावे का द्विगुण दण्ड देना होगा। (मनु. ८।५६)।

यदि 'हीन' या पराजित ऋणी दावा का द्रव्य न दे सके तो उसे धनी का काम कर के देन चुकाना होगा। [यदि काम करने में असमर्थ है तो जेल में जायगा। मेधातिथि पृ० ६४६]। पर ऋणी यदि ब्राह्मण है तो उसे थोड़ा थोड़ा कर के चुकाने की अनुमति दी जायगी।

(मनु० ८।१७७;६।२२६)।

साक्षी, लेख, अनुमान या दिव्य इन प्रमाणों से पराजित वादी यदि दातव्य द्रव्य न देवे तो उसे देश से ही निकाल देना ऐसा बृहस्पति का सिद्धान्त है (विवादरत्नाकर ६६३)।

दण्ड चार प्रकार के माने गये हैं— (१) वाग्दण्ड, (२) धिग्दण्ड, (३) धनदण्ड, (४) शारीरदण्ड। यदि अपराध मामूली है तो वाग्दण्ड —डांटना, पर्याप्त होगा। उससे कुछ बुरे अपराध के लिये धिग्दण्ड—'छिः! बड़ी लज्जा की बात है! तुम्हें धिक्कार है' इत्यादि। इससे अधिक अपराध में धनदण्ड—जुरमाना। सब से अधिक अपराध में शारीर दण्ड—जेल, देशनिष्कासन, मरण। कुछ लोगों के मत में वाग्दण्ड, मित्र, पुरोहित और अपने से बड़ों के लिये है—धिग्दण्ड संन्यासियों के लिये, धनदण्ड समान विवादियों के लिए। ब्राह्मण का प्राणदण्ड कभी नहीं होगा उसकी जगह देश से निष्कासन होगा। सो भी माधव के

अनुसार वैसे ही ब्राह्मणों का होगा जिन्हे दण्ड देने के लिये धन नहीं है। मनु के अनुसार प्राणदंड की जगह ब्राह्मण का शिरोमुंडन होगा (पराशर माधव पृ० १५५-१६०)।

पुनर्न्याय (appeal) के प्रसंग मनु ने कहा है—'जब कोई निर्णय हो चुका तो राजा उसका उलट फेर न करें (८।२३३), पर यदि कोई निर्णय मन्त्रियों या सभा के द्वारा धर्मशास्त्रविरुद्ध हुआ हो तो राजा स्वयं उसका पुनर्विचार करेगा और यदि पूर्वनिर्णय अन्याय्य सिद्ध हो तो निर्णायकों को १०० पाण दंड देना होगा। (८।२३४)। राजा स्वयं पुनर्विचार कर सकता है—सो यहां कहा है, पर कुछ लोगों का मत है कि वादियों की प्रार्थना पर भी 'पुनर्न्याय' हो सकता है। (वीरमित्रोदय पृ-१२१—२६)

इस सम्बन्ध में निर्णायकों के आपेक्षिक श्रेष्ठत्व का क्रम यों माना गया है—(१) राजा के नियुक्त जज, उनके नीचे (२) ग्राम पंचायतें, उनके नीचे (३) 'पूग' मंडली, समाज,—उनके नीचे (४) श्रेणी-कारीगरों के गरोह—उनके नीचे (५) कुल-अर्थात् खेतिहरों का समाज (अपरार्क)॥ इसीके उलटे क्रम से अपील होगी। नारद (१.७) के अनुसार जजों के निर्णय की भी अपील राजा के पास हो सकती है। इस पुनर्न्याय को राजा स्वयं कुछ ऐसे चुने हुए सभ्यों की सहायता से करेगा जो पूर्वनियुक्त जजों से बहुत बढ़कर गुणवान् हों॥ यदि अपील में पूर्वनिर्णय का परिवर्तन हुआ तो पहले का विजयी वादी निर्णायक सभ्यों से दावा के द्विगुण दंड पावेगा—यदि सभ्यों के अपराध से गलती हुई हो। यदि साक्षियों के अपराध से गलती हुई हो तो साक्षियों ही को यह दंड देना होगा। यदि पुनर्विचार होने पर भी पूर्वनिर्णय ही स्थिर रहा तो अपील करनेवाले का दंड होगा। (मिताक्षरा)।

क्रियाभेद

व्यवहार का परिवर्तन

विवादरत्नाकर (पृ.६१८—६२१)

जो व्यवहार हो चुका है वही पक्का और प्रामाणिक समझा जायगा। उसमें यदि उलटफेर किया जाय तो उसे 'क्रियाभेद'

(व्यवहार में परिवर्तन) कहते हैं। ऋणी या धनी एक तरह व्यवहार करके फिर पीछे यदि उसे घटा बढ़ा कर व्यवहार करे तो उसे 'क्रियाभेद' कहेंगे। जैसे पहले २) सैकड़े का सूद ते हुआ फिर यदि ऋणी ५) सैकड़ा देना स्वीकार करे तो ऐसी अवस्था में पीछे वाला ही व्यवहार प्रमाणित समझा जायगा, (बृहस्पति २७।१४-१६)। सभी विवादों में पिछलाही व्यवहार प्रमाणित समझा जायगा-जैसे पहले अपने द्रव्य को बन्धक रक्खा- फिर कुछ दिनों के बाद यदि उसे बेच दे तो बेचनाही पक्का समझा जायगा— बन्धक का व्यवहार रद्द हो जायगा (बृहस्पति २७।१७)।

ऐसाही सिद्धान्त याज्ञवल्क्य का भी है। पर उनके अनुसार बन्धक—दान—क्रय में पहला ही व्यवहार प्रमाणित समझा जायगा। अर्थात् एकही भूमि एक आदमी के पास बन्धक रक्खी गई-फिर कुछ दिनों के बाद दूसरे आदमी के हाथ- तो पहलाही बन्धक ठीक समझा जायगा पिछला नहीं ॥ पर यदि किसी भूमि को एक आदमी के हाथ बन्धक रक्खा फिर कुछ दिनों के बाद उसे किसी दूसरे आदमी को दे डाला, या दूसरे के हाथ बेच डाला, तो ऐसी स्थिति में यद्यपि भूमि का भोग बन्धकवाले ही का उचित होगा तथापि उस जमीन का स्वत्व दान लेनेवाले या खरीदनेवाले ही का होगा ॥ यदि दान पहले एक को दिया गया-फिर दूसरेको-तो पहला ही दान पक्का रहेगा।

यदि एक ही भूमि एक ही दिन बन्धक रक्खी जाय, किसीको देदी जाय और बेच भी दी जाय-तीनों क्रियाएं एक ही दिन हों-तो तीनों प्रमाणित समझी जायंगी और धन को तीनो आदमी आपस में बांट लेंगे-तृतीय भाग प्रतिग्रहीता (जिसे दान दिया गया) लेगा, बाकी दो भागों को और दोनों (बन्धकवाला और खरीदनेवाला) अपने धन के अनुसार बांट लेंगे। अर्थात् बन्धकवाले ने जितना द्रव्य देकर बन्धक लिया हो और खरीदनेवाले ने जितना द्रव्य देकर खरीदा हो दोनों इन द्रव्यों का विचार करके उसीके अनुसार बांटेंगे। ऐसाही बृहस्पति के वचन का अर्थ भासित होता है। पर विवादरत्नाकर के अनुसार प्रतिग्रहीता जब तृतीयांश ले लेगा तब बाकी को दो भागों में बांट कर एक भाग बन्धकवाला और एक खरीदनेवाला लेगा— ऐसा अर्थ है।

हलायुध के अनुसार दान और विक्रय की अपेक्षा बन्धक हीनबल व्यवहार है, इस लिये बन्धकवाले को या तो कुछ नहीं मिलेगा अथवा यदि मिलेगा तो बहुत कम हिस्सा।

प्रमाण

पहले कह आये हैं कि प्रमाण चार तरह के होते हैं—(१) लिखित, (२) साक्षी, (३) भोग, (४) दिव्य।

लिखित

'लिखित' या 'लेख' के दो भेद हैं—(१) अपना लिखा, (२) दूसरे से लिखवाया। (नारद ४।१३५)। पर वसिष्ठ ने दो भेद (१) मामूली आदमी का लिखा और (२) राजा का लिखा बतलाया है। बृहस्पति (८।३) के अनुसार लेख के तीन भेद हैं—(१) राजा का लिखा, (२) बाहर मैदान में किसी लेखकद्वारा लिखवाया (३) अपना लिखा। विष्णु के अनुसार ये तीन भेद हैं—(१) राज-प्रमाणित (२) साक्षियों से प्रमाणित (३) अप्रमाणित।

अर्थात् पहला विभाग है—(१) राजशासन (२) लोकलेख। 'लोक-लेख' सामान्य जनता के लेख के दो विभाग हैं—(१) स्वहस्तलिखित-अपना लिखा—असाक्षिक। (२) अन्यहस्तलिखित, दूसरे का लिखा—ससाक्षिक। (मिताक्षरा पृ० ५१५)। राजशासन तीन प्रकार का होता है—दानपत्र, प्रमादलिखित, जयपत्र (बृहस्पति ८)। वसिष्ठ (अपरार्क पृ० ६८३) के अनुसार राजशासन के चार भेद हैं—शासन (दानपत्र), जयपत्र (Decree), आज्ञापत्र (Proclamation), प्रज्ञापन पत्र, (आचार्य पुरोहित इत्यादि माननीय पुरुषों के प्रति प्रार्थना रूप पत्र)। जब राजा भूमिदान करता है तब उसे उचित है कि ताम्र-पत्र पर या पट्टवस्त्र पर दानपत्र लिखवावे; जिसमें देश, राजा के पिता, पितामह, प्रपितामह और माता के नाम और राजा का अपना नाम लिखा रहे, और फिर ये वाक्य लिखे रहें—'यह दान अमुक शाखीय ब्राह्मण देवदत्त को दिया गया—यावत्सूर्यचन्द्र यह अटल रहेगा—इनके पुत्र पौत्रादि सन्तान इसका भोग करेंगे—यह दान कभी

छीना नहीं जा सकता और इसमें किसी तरह की न्यूनता लगान आदि रूप से नहीं की जायगी। (बृहस्पति ८।१२–१४), याज्ञवल्क्य (१।३१८-३१६) की आज्ञा है कि जब कभी राजा भूमि या 'निबन्ध' नियत (allowance) 'इस गांव में फी खेत के उपजा से इन्हें इतना प्रतिमास या प्रतिवर्ष दिया जाया करेगा] किसी को देवें तो आगामी राजाओं के सूचनार्थ एक लेख लिख दें, कपड़े पर या ताम्रपत्र पर, जिसमें राजा के नाम का मोहर लगा हो उसमें राजाके पूर्वपुरुषों के नाम, दान की संख्या परिमाण इत्यादि, दी हुई भूमि की सीमा और संवत्---ये सब लिखे जाने चाहिये। और विष्णु (३।८२) के अनुसार ये सब लिखे हों और दान में विघ्न करनेवालों तथा दी हुई भूमि अपहरण करनेवालों पर अभिशाप भी लिखा रहे। इसपर मोहर के अतिरिक्त राजा का स्वहस्त (दस्तखत) भी रहेगा। विष्णु (७।३) के अनुसार कोई भी लेख राजा से प्रमाणित समझा जा सकता है जब वह राजा की आज्ञा से राजकीय लेखक का लिखा हो और उस पर प्रधान प्राड्विवाक का दस्तखत हो। पर वसिष्ठ के अनुसार दान-पत्र मन्त्री का लिखा होगा, और उसपर दस्तखत मोहर राजा स्वयं करेगा। कात्यायन के अनुसार शुद्ध प्रमाणित दानपत्र वह है जिसपर राजा का मोहर और राजा का और साक्षियों का दस्तखत हो। वसिष्ठ की आज्ञा है कि दानपत्र राजलेखक ताम्रपत्र या वस्त्र पर लिखेगा, उस पर राजा अपने हाथ से लिखेगा 'मैं, राजा, अमुक राजा का पुत्र, इसे स्वीकार करता हूं'। इस पर मन्त्री भी लिखेगा 'मैं इस बात को जानता हूं' और अपना दस्तखत करेगा। (बृहस्पति ८।१६)। इस दानपत्र पर राजा का मोहर रहेगा और साल, मास, पक्ष, तिथि लिखा रहेगा। इसीको 'राजशासन' कहते हैं (बृहस्पति ८।१७)।

किसी नौकर के काम से सन्तुष्ट हो कर जब उसे जमीन या और धन देगा तब जो उसे दानपत्र देगा उसीका नाम 'प्रसादलिखित' है (बृहस्पति ८।१८)।

'जयपत्र' (Decree) उस पत्र को कहते हैं जिसमें मुकद्दमे के चारो पाद–पूर्वपक्ष, उत्तर, साधन, निर्णय लिखे हों और राजा का मोहर लगा हो (बृहस्पति ८।१८)। जिस वादी ने अपना पक्ष प्रमाणित

कर दिया है और विवाद विषय स्थावर या जंगम धन पर अपना स्वत्व सिद्ध कर दिया है, उसे राजा जयपत्र देगा, जिसमें पूर्वपक्ष, उत्तर, साधन, तर्क, साधनतर्क की समालोचना, धर्मशास्त्र वचन और निर्णय लिखे रहेंगे (व्यास वीरमित्रोदय पृ० १६४)। जयपत्र पर सभासदों के भी दस्तखत होंगे (मिताक्षरा में मनु)।

यदि सभासदों में ऐकमत्य हो तभी निर्णय ठीक समझा जायगा। यदि वैमत्य हो तो फिर से विचार होगा। (नारद ३।१७)

एक विवाद में जो निर्णय हो चुका है उसके समान और सब विवादों में भी वही निर्णय लागू होगा। ऐसे निर्णय का नाम है 'पश्चातकार' Ruling (कात्यायन—वीरमित्रोदय १६५)।

'लोकलेख'—मामूली लोगों के दस्तावेज 'पौरलेखक' (Public scribe) लिखेगा। इसमें राजा के वंश का वर्णन—साल, मास, पक्ष, तिथि, दोनों पक्ष (दस्तावेज़ करनेवाला और करानेवाला) की जाति, उनके नाम, पिता का नाम, जिस धन के प्रसंग में लेख हो— सूद का दर इत्यादि लिखे जायगे (व्यास–पराशरमाधव पृ० ६२)। लोकलेख सात तरह के होते हैं [१] धनविभाग पत्र, आपस में धन बांट कर जो दस्तावेज लिया जाता है)। [२] दानपत्र (भूमि किसीको देकर जो उसको सनद लिख दिया जाता है)। [३] क्रयपत्र (घर या जमीन खरीद कर उसका दाम इत्यादि देकर जो लेख लिखाया जाता है)। [४] आधिपत्र (जङ्गम या स्थावर धन को बन्धक रख कर जो लेख लिखाया जाता है)। संवित्पत्र (गांव के व्यवहार के अनुसार गांव के लोग आपस में समझौता कर के एकरारनामा लिखते हैं, यह व्यवस्थापत्र ऐसा होना चाहिये जो किसी तरह राजविरोधी न हो)। [६] दासपत्र (जंगल में अन्न वस्त्र बिना क्लेश सहता हुआ यदि किसीसे रक्षित हो कर उसे लिख दे कि मैं इस रक्षा के बदले तुम्हारा काम किया करूंगा)। [७] ऋणलेख्य (सूद पर ऋण लेकर जो तमस्सुक लिख देता है)।

(बृहस्पति–पराशरमाधव पृ० ८५-८६)।

व्यास ने 'लोकलेख' के आठ भेद बतलाये हैं। [१] 'चीकर' जिसमें ऋणी और धनी से नियुक्त पौरलेख दोनों पक्षों के कथ्य को, उसके

नाम, बाप के नाम, साक्षियों के नाम सहित लिखे। [२] 'स्वहस्त' जिसको ऋणी अपने हाथ से लिख दे, साक्षियों का नाम न हो। [३] 'उपगत' पारलेखक या ऋणी का स्वयं लिखा हुआ ऋणपत्र, जिसे ऋणी ने स्वीकार कर लिया है। [४] आधिपत्र, बन्धक का दस्तावेज। [५] क्रयपत्र-बेचीनामा। [६] स्थितिपत्र-विद्वानों की श्रेणी पञ्चायत इत्यादि के समझौता की व्यवस्था जिसमें लिखी होती है। [७] सन्धिपत्र-वृद्धों के पास कोई विवाद उपस्थित होने पर वे जो बीच में पड़ कर झगड़ा तै कर दें इस झगड़े का व्योरा समेत जैसा निर्णय सबकी (दोनो वादी तथा वृद्धों की) सम्मति से हुआ हो सो जिसमें लिखा जाय। [८] शुद्धिपत्र-किसीके ऊपर अनुचित कर्म का अभियोग लगाया गया और उसने प्रायश्चित्त कर के अपने को शुद्ध कर लिया—इस शुद्धि का प्रमाण जिसमें लिखा जाय। (पराशरमाधव पृ० ६२)।

'सीमापत्र' वह है जिसमें सीमाविवादों का निर्णय कर के राजा के निर्धारित सीमाओं का उल्लेख हो। इसमें उन साक्षियों के नाम भी लिखे होंगे जिनकी सहायता से निर्धारण किया गया है (विष्णु ८।२५५)।

जब दोनों विवादियों ने विवाद को आपस में तै कर लिया है तब एक लेख लिखा जाना चाहिये—जिसमें धनी का नाम, ऋणी का नाम, उनके वेदशाखा, गोत्र, पिता के नाम, मास—तिथि लिखे हों। इसपर साक्षियों के भी दस्तखत होंगे। (याज्ञ. २।८४ ८५)।

ऋणपत्र में दोनो पक्ष की जाति, नाम, निवासस्थान, द्रव्य, उसकी संख्या, सूद का दर, वर्ष, मास, पक्ष और तिथि यह सब लिखा जायगा (व्यास अपरार्क ६८५)। जब कार्य सम्पन्न हो गया तब इस ऋणलेख पर ऋणी अपना दस्तखत करेगा और लिखेगा 'इसमें जो कुछ लिखा है उसे मैं देवदत्त, यज्ञदत्त का पुत्र, स्वीकार करता हूं'। (याज्ञ. २।८६)। इसपर साक्षियों के दस्तखत होंगे—जो वे अपने हाथ से लिखेंगे और यह भी लिख देंगे कि 'मैं अमुक का पुत्र, इस कार्य्य का साक्षी हूं'। इन साक्षियों की संख्या विषम होगी [विश्वरूप के मत में तीन हों, मिताक्षरा ने 'समाः' पाठ स्वीकार कर के लिखा है कि ये साक्षी तुल्य श्रेणी के होंगे]। (याज्ञ. २८७) लेखक भी अपना नाम,

अपने बाप का नाम लिखेगा और यह भी लिख देगा कि 'मैंने इसे दोनों पक्षवालों के कहने से लिखा है' (याज्ञ. २।८८)।

यदि ऋणी अपढ़ है तो जो उसके लिखने का है सो लिखना जाननेवालों के सामने किसी दूसरेसे लिखवा देगा। यदि किसी कार्य के साक्षी अपढ़ हैं तो उनका भी लेख्य दूसरा आदमी साक्षर साक्षियों के सामने लिखेगा। (नारद-अपरार्क ६८५)। साक्षियों के बिना भी लेख प्रमाणित समझा जायगा, यदि अपने हाथ का लिखा हो और अगर बलात्कार या छल से न लिखाया गया हो (याज्ञ. २।८६)। अपरार्क का मत है कि साक्षी सहित भी लेख यदि बलात्कार या छल से लिखाया गया है तो प्रमाणित नहीं समझा जायगा। नारद के अनुसार लेख दो प्रकार के होते हैं—अपने हाथ का लिखा और लेखक से लिखवाया। पहिला बिना साक्षी के भी प्रमाणित समझा जायगा, पर दूसरे में साक्षियों की आवश्यकता होगी। साक्षियों से प्रमाणित वह लेख समझा जायगा जो जहां कहीं जिसी किसीसे लिखा जाकर साक्षियों के दस्तख़त से प्रमाणित हो (विष्णु ७।४)।

यदि प्रतिवादी कहे कि जो लेख उस के विरुद्ध उपस्थित किया गया है सो उस लेखक का लिखा हुआ नहीं है जिसका नाम उसमें लिखा है, और जिन साक्षियों का नाम उसमें लिखा है उनके सामने भी लेख नहीं लिखा गया, तो ऐसी स्थिति में उस लेख के कूटलेख होने की शङ्का होगी (कात्यायन—अपरार्क पृ० ६८६)। यदि किसी लेख के प्रसङ्ग-कूट होने की शङ्का हो तो उस लेख की शुद्धि (कूट नहीं है यह निश्चय) इन युक्तियों से होगी :—

(१) लेखक के शङ्कित लेख को उसके निश्चित लेख से मिलाना।

(२) युक्ति अर्थात् तर्क। जैसे—जिस समय का लेख लिखा हुआ है उस समय में ऋणी को रुपये की ज़रूरत थी यह यदि सिद्ध हो तो दस्तावेज़ सच्चा समझा जा सकता है।

(३) प्राप्ति—दस्तावेज़ लिखनेवाले और लिखानेवाले का साथ रहना ('युक्तिप्राप्ति' पद का ऐसा अर्थ विश्वरूप अपरार्क और मयूख में लिखा है। मिताक्षरा में दोनों को साथ ही लेकर अर्थ बताया है "देशकाल पुरुष का द्रव्य के साथ सम्बन्ध")।

(४) क्रिया—अर्थात् लेख के शुद्ध होने में प्रमाणों का उपयोग।

(५) चिह्न—अर्थात् लेखक के अक्षरों की बनावट का विचार (अथवा मुद्रा)।

(६ सम्बन्ध—अर्थात् दोनों पक्षवालों का पहिले से लेन देन रहा है या नहीं।

(७) आगम—धनी को धन कहां से मिला।

(८) हेतु—ऐसा अनुमान जैसे मिथ्या साक्षियों का नाम क्यों कोई लिखेगा अथवा लेखक बड़ा ही सच्चरित्र है इत्यादि। याज्ञवल्क्य २-९२)

शङ्कित लेख के जांच के लिये लिखनेवाले के हस्ताक्षर की, लेख के आशय की, लेख में जो विशेष चिह्न हों उनकी और लेख सम्बन्धी कार्य के प्रसंग में जो कुछ विशेष बातें हों उनकी परीक्षा करनी चाहिये (नारद ४।१४३; विष्णु ७।१२)। कात्यायन के अनुसार यदि प्रतिवादी के लिखित लेख के प्रसंग में शंका हो तो उसके हस्ताक्षर से उसे मिलान चाहिये। यदि साक्षियों का नाम उस पर हो तो उन साक्षियों को बुला कर पूछना चाहिये कात्यायन – अपरार्क ६८९)। यदि ऋणी, लेखक और साक्षी सभी मर गये हो तो लेख की सत्यता की परीक्षा करने का यही एक उपाय है कि जो लेख उनके लिखित दोनों पक्षों से स्वीकृत हैं उनके अक्षरों से शंकित लेख के अक्षर का मिलान किया जाय (कात्यायन–अपरार्क ६८९; विष्णु ७।१३)। यदि लिखनेवाले जीवित हैं तो सभा में उनसे लिखा कर लेख की सत्यता की जांच हो सकती है (कात्यायन—वीरमित्रोदय १९८)।

यदि ऋणी ऋणपत्र का एकदम अस्वीकार करे तो दिव्य ही के ऊपर निर्णय किया जा सकता है (हारीत—मिताक्षरा २।९२)।

यदि लेख को ऋणी ने एक वार देख लिया है और २० वर्ष तक उसके विरुद्ध कभी कुछ नहीं कहा तब वह लेख सर्वथा पुष्ट प्रमाणित और परिशुद्ध समझा जायगा (कात्यायन—वीरमित्रोदय १९८)।

पुराना लेख यदि बहुत दिनों तक कहीं किसी को नहीं दिखलाया गया—न कहीं उसकी चर्चा की गई—तब दोनों वादियों के मरने के बाद वह लेख प्रमाणित नहीं समझा जायगा—यदि बन्धक सम्बन्धी नहीं है

(व्यास अपरार्क ६६२, नारद ४।१३८) के अनुसार ' यदि धनी, ऋणी, साक्षी सब मर गये हैं तब लेख प्रमाणित नहीं समझा जायगा, यदि बन्धक के साथ नहीं हैं। बृहस्पति (८।२६) के अनुसार-'यदि लेख ३० वर्ष तक किसीको नहीं दिखलाया गया, न उसकी चर्चा ही की गई, तो वह प्रमाणित नहीं समझा जायगा - साक्षी जीवित हों तो भी नहीं '।

द्रव्य द्विगुण हो जाने पर जब सूद बढ़ना बन्द हो गया तब यदि धनी ने लेख कों नहीं देखलाया, न ऋणी से ऋण चुकाने को कहा गया, तो लेख शंकित समझा जायगा (बृहस्पति ८।३०)। यदि लेख अवसर पर दिखाया गया और द्रव्य बारम्बार मांगा गया और सब लोगों को चेताया गया, तो ऐसा लेख सदा के लिये प्रमाणित हो गया। साक्षियों के मरने पर भी उसके प्रति शंका नहीं की जा सकती। (नारद ४।१४०)। यदि ऋण का कुछ अंश दे दिया गया है और बाकी का भी तगादा किया गया है तो इससे लेख प्रमाणित ही समझा जायगा, साक्षियों के मरने पर भी (नारद-अपरार्क पृ० ६८६)। जिस लेख के प्रसंग कभी किसीने कुछ भी नहीं सुना है और जिसके बारे में लोग कुछ भी नहीं जानते वह प्रमाणित नहीं समझा जायगा-साक्षियों के जीवित रहने पर भी (नारद ४।१४१)।

मनु ने कहा है— जबर्दस्ती दान, जबर्दस्ती भोग, जबर्दस्ती लेख—जो कुछ जबर्दस्ती की जाय सब नहीं के बराबर है (मनु ८।१६८)। याज्ञवल्क्य के मत से भी जो लेख जबर्दस्ती से या छल से लिखवाया गया हो सो प्रमाणित नहीं हो सकता (२।८६)।

साक्षी तथा लेखक के दोष से लेख दूषित होता है। यदि छल पाया जाय, तब भी लेख अप्रमाणित होगा। लेख में लिखे हुए साक्षियों में यदि एक भी ऐसा है जो अविश्वसनीय या किसी तरह लोक में बदनाम है तो वह लेख अप्रमाणित होगा (बृहस्पति ८।२४)। ऋणी के अपने हाथ का लिखा हुआ भी लेख-यदि साक्षियों से प्रमाणित नहीं है तो प्रमाणित नहीं समझा जायगा-जब तक लिखनेवाला स्वयं उसे स्वीकार न करले (कात्यायन-अपरार्क ६८६)।

वही लेख प्रमाणित समझा जायगा जो देशाचार के विरुद्ध नहीं है—जिसका विषय ऋणादिविषयक धर्मशास्त्र के अनुसार है, और जिसके शब्द, अर्थ, तात्पर्य किसी तरह असंगत नहीं हैं (नारद ४।१३६; विष्णु ७।११)। यम ने भी कहा है—'वह लेख प्रमाणित नहीं होगा जो देशाचार के विरुद्ध है या सन्दिग्ध अथवा असंगत शब्दों में लिखा है या ऐसे पुरुष का लिखा है जिसको लेखविषयक धन से कुछ सम्बन्ध नहीं है (यम-अपरार्क ६८६)।

जला हुआ, बहुत पुराना, मैला, जिसके अक्षर टूटे फूटे हैं, जो थोड़े ही दिनों के लिये लिखा गया, ऐसे लेख प्रमाणित नहीं समझे जायंगे (बृहस्पति ८।३२५)।

लेख के पुराने होने पर यदि उसकी स्याही उज्ज्वल देख पड़े या लेख के नये होने पर भी उसकी स्याही म्लान देख पड़े तो ऐसे लेख को कूट (जाली) समझना चाहिये (बृहस्पति—पराशरमाधव पृ० ६५)।

लेख के अप्रमाणित होने के लक्षणों का संग्रह विष्णुस्मृति (७।६-१०) में यों पाया जाता है—जो साक्षियों से प्रमाणित नहीं है, जो जबर्दस्ती लिखवाया गया है, जो छल से लिखाया गया है, जिसमें लिखित साक्षियों में से एक भी ऐसा है जिसका घूस ले कर लिखना सिद्ध हुआ या जो दुराचार प्रसिद्ध है, जो बालक से लिखवाया गया है या किसी पराधीन से, या उन्मत्त से, या पागल से, या भयभीत मनुष्य से।

नारद का वचन है—'वह लेख अप्रमाणित है जिसे उन्मत्त, या महा- पातक से अभियुक्त, या स्त्री या बालक ने लिखा है, या जो जबर्दस्ती या धमकी देकर या छल से लिखवाया गया है (नारद ४।१३७)।

यदि लेख ऐसे आदमी का लिखा है जो राजा के डर से भाग गया है तो ऐसी स्थिति में यदि लिखनेवाला उपस्थित नहीं कराया जा सके तो केवल इसी कारण से वह लेख अप्रमाणित नहीं होगा। पर यदि मरते समय किसीने कोई लेख लिखा या भयभीत अवस्था में, या क्लेशित अवस्था में, या स्त्री ने, या उन्मत्त ने, या विपत्तिग्रस्त मनुष्य ने, या जबर्दस्ती या छल से, तो वह लेख प्रमाणित नहीं होगा। (बृहस्पति ८।२२-२३)।

किसी लेख के विरुद्ध जो शंकाएं की गई उनके समाधान यदि उसका पेश करनेवाला न कर सका तो उसे २५० पण दण्ड देने होंगे।

(कात्यायन—वीरमित्रोदय पृ० १६६)

यदि कोई किसी लेख को कूटलेख कहे—पर वह प्रमाणित सिद्ध हो जाय तो कूट कहनेवाले के जीभ हाथ और पैर कटवाए जाएंगे।

(व्यास—वीरमित्रोदय पृ० १६६)

पहला प्राचीन लेख यदि देशान्तर में हो—या ऐसा लिखा हो जो पढा न जाय या खो गया हो—या अक्षर मिट गये हों—या कीड़े खा गये हों—जल गया हो—या फट गया हो,—तो दूसरा नया लेख करा लिया जाना चाहिये। (याज्ञ० २'६१)। यह नया लेख क्या राजा ही करा देगा या दोनों पक्षवाले स्वयं करलेंगे (विश्वरूप)। यह तभी हो सकता है जब दोनो पक्षों को स्वीकार हो। यदि एक को भी अस्वीकार हो तो विवाद का रीतिपुरस्सर विचार होगा और जैसी भी उसकी अवस्था हो लेख को उपस्थित करने का समय दिया जायगा। यदि लेख नहीं आ सका तो विचार साक्षियों ही की बात पर चलेगा। यदि साक्षी भी कोई न हो तो दिव्य ही का सहारा लेना होगा (मिताक्षरा)।

ऐसी ही आज्ञा नारद की भी है (४।१४२,१४६)।

स्वहस्त लिखित—अपने हाथ का लिखा लेख जिस पर साक्षियों के दस्तखत नहीं हैं—सो उतना प्रामाणिक नहीं समझा जायगा जितना वह जो बाहर में पैर लेखक का लिखा हुआ है और जिस पर साक्षियों के दस्तखत हैं (व्यास—अपरार्क ६६१)।

लेख-प्रमाण साक्षी-प्रमाण से अधिक बलवान्--विश्वसनीय—है।

(कात्यायन—अपरार्क ६६२)

लेख-प्रमाण का निरास लेख ही से हो सकता है—साक्षियों से नहीं। वाचनिक (साक्षी) प्रमाण का निरास वाचनिक से होगा (संवर्त—वीरमित्रोदय पृ० २०१) (नारद १।१४५)। लेख का निरास न साक्षियों से होगा न दिव्य से (बृहस्पति ८।३१)। परन्तु केवल लेख ही के सहारे विवाद का निर्णय नहीं होना चाहिये—ऐसा व्यास का मत है (वीरमित्रोदय १।६७)। लेख-प्रमाण का बल घट जाता है यदि वह

उपस्थित न किया जाय—या सभा में पढ़ा न जाय (बृहस्पति ८।३१)। स्थावरधन के विषय में जो विवाद हो—विक्रय, बन्धक, विभाग, दान—उसमें विना लेख-प्रमाण के स्वत्व का निर्णय नहीं हो सकता—ऐसा मरीचि ने कहा है (पराशरमाधव पृ० ६३)।

जब कभी ऋणी ऋण का कोई हिस्सा दे चुके तो उसे उचित है कि ऋणपत्र के पीठ पर उसे लिखदे [‘इतना मैने आज दिया’) या धनी अपनी दस्तखती रसीद उतने का देदे। (याज्ञ० २।६३)।

ऐसा अर्थ अपरार्क के मतसे है। मिताक्षरा के अनुसार उत्तरार्ध का अर्थ यह है कि तमस्सुक के पीठ पर धनी ही अपने हाथ से लिख दे ‘मैने इतना पाया’। पहला अर्थ भी मिताक्षराकार को स्वीकार है। वही अर्थ विष्णु स्मृति के अनुसार भी ठीक है। विष्णु ने लिखा है ‘यदि ऋण का कुछ अंश चुकाया जाय और ऋणपत्र वहां नहीं है तो धनी उतने की रसीद देदेगा, (६।२६), जब सब ऋण चुका दिया गया तब ऋणपत्र फाड़डाला जायगा—अथवा सफाई के लिये धनी लिखी फारखती देदेगा (याज्ञ० २।६४)।

तमस्सुक फाड़डाला जायगा या रसीद दी जायगी सो धनी की इच्छा पर निर्भर होगा—ऐसा विश्वरूप का मत है। अपरार्क के मत में द्वितीय पक्ष का ग्रहण तभी होगा जब तमस्सुक नष्ट हो गया है या वहां नहीं है और जो ऋण साक्षियों के सामने लिया गया सो साक्षियों ही के सामने चुकाया जायगा (याज्ञ० २।६४; विष्णु ६।२४)।

साक्षी

विवादों मे असली बात का पता साक्षियों के द्वारा लग सकता है (नारद १।१४७; गौतम १३।१)। ‘साक्षी’ नाम इसलिये रक्खा गया कि उसे विवाद विषय का ‘साक्षात्’ ज्ञान रहता है (मनु ८।७४; पाणिनि ५।२।६१) ॥ वादी-प्रतिवादी दोनों के सामने जो कुछ साक्षियों ने देखा है उतनाही के लिये वे प्रमाण समझे जाएंगे (बृहस्पति— वीरमित्रोदय १४२)।

कौन साक्षी हो सकता है? इस पर मनु ने कहा है—‘गृहस्थ (घरगृहस्थीवाला) पुत्रवान्’ मौल (प्रतिष्ठित कुल के देशी सज्जन) क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वादियों से बुलाये जानेपर साक्षी हो सकते हैं’(मनु

८।६२)। ब्राह्मण छोड़ दिये गये हैं क्यों कि इनका समय पढ़ने पढ़ाने में जाता है–यदि विवादों में बुलाये जाएगे तो उन कार्यों में बाधा होगी (मेधातिथि)। इसलिये ब्राह्मणों को साक्षी देने के लिए तभी बुलाना चाहिये जब और कोई साक्षी न मिले (वीरमित्रोदय पृ० १४७)। आगे चलकर मनु कहते हैं—'सभी जाति के विश्वासपात्र सज्जन, जो धर्म जानते हैं लोभी नहीं हैं, साक्षी हो सकते हैं' (८।६३)। 'स्त्रियों के विवाद में स्त्रियां ही साक्षी हो सकती हैं–द्विजों के विवाद में उनके सदृश ['जाति, गुण, वृत्ति, चरित्र में समान' मेधातिथि] द्विज-शूद्रों के विवाद में सच्चरित्र शूद्र—और नीच जातियों के विवाद में नीचजाति के लोग (मनु ८।६८)। विवादियों में यदि एक भी स्त्री है तो साक्षी स्त्री ही होगी ऐसा मेधातिथि का मत है। यह सब नियम कहते हुए भी अन्त में मनु ने कहा है—'जो कोई विवाद-विषय का जाननेवाला है सो उस विवाद में साक्षी हो सकता है' (मनु ८।६६)॥

मेधातिथि (८।६२) का मत है–और कई स्मृतियों का भी सिद्धान्त है–कि जो कोई हो असल साक्षी वही हो सकता है जिसे वादी साक्षी मानकर सभा में उपस्थित करे। यदि कोई विना बुलाये अपने से साक्षी होने के लिये आवे तो वह साक्षी नहीं माना जायगा। इस विषय में गौतम का बचन है–'जिनका नाम पूर्वपक्ष (अर्जीदावी) मे नहीं लिखा है वे भी साक्षी हो सकते हैं, (१३।८)।

नारद के अनुसार साक्षी वही हो सकता है जिसने विवाद विषय को अपनी आंखों देखा है (नारद १।१४८) और प्रतिष्ठित कुल का है सच्चरित्र है (नारद १।१५३)। घरेलू झगड़ो में घर के ही लोग साक्षी हो सकते हैं (नारद १।१५३)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सच्चरित्र शूद्र अपनी अपनी जाति के विवादों मे साक्षी हो सकते हैं (नारद १।१५४)। पूग-श्रेणी–इनके विवादों मे कारीगर या वनियें साक्षी होंगे। किसी सभा या मंडली के सदस्यों के बीच यदि विवाद हो तो कोई सदस्य ही साक्षी होगा। स्त्रियों के विवाद मे स्त्रियां ही (नारद १।१५५)।

याज्ञवल्क्य ने साक्षियों के अपेक्षित गुणों का संग्रह यों किया है (२।६८-६६)–'तपस्वी, उदार, सत्कुलोत्पन्न, सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, सीधा

(ईमानदार), पुत्रवान्, धनवान्, श्रौतस्मार्त कर्मोंमें तत्पर, कमसे कम तीन'। ऐसाही बृहस्पति का भी मत है (७।२८)। विष्णु का भी, पर इन्होंने एक गुण—वयोवृद्ध होना भी बतलाया है (८।८)।

इसी वचन में कहा है कि 'वर्ण और जाति के अनुसार ये साक्षी होंगे।' इस वाक्य के अर्थ में मतभेद है। (१) 'पुरुष के लिये पुरुष, स्त्री के लिये स्त्री साक्षी' यह 'यथावर्ण' पद का अर्थ है और 'ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिये क्षत्रिय, वैश्य के लिये वैश्य, शूद्र के लिये शूद्र' यह 'यथाजाति' पद का अर्थ है—ऐसा विश्वरूप का मत है। (२) 'जहां दोनों वादी एक ही जाति के हैं तहां जो जाति वादियों की है उसी जातिवाले साक्षी हो सकते हैं'—ऐसा अर्थ 'यथाजाति' पद का है, और 'यदि दोनों वादी भिन्न भिन्न जाति के हैं तब जाति के क्रम से साक्षी होंगे (अर्थात् पहले ब्राह्मण, तब क्षत्रिय इत्यादि क्रम से) यह अर्थ 'यथावर्ण' पद का है—ऐसा अपरार्क का मत है। (३) 'जाति' पद से ब्राह्मणादि चारों मुख्य जातियां विवक्षित हैं और 'वर्ण' पद से गौण अर्थात् संकर जातियां—तात्पर्य यही है कि जिस जाति के विवादी हों उसी जाति के साक्षी होंगे'—ऐसा सिद्धान्त मिताक्षरा का है॥

इतना सब कह कर भी याज्ञवल्क्य ने भी मनु की तरह अन्त में कहा है—'सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः'। अर्थात् सब जाति के विवादों में सब जाति के साक्षी हो सकते हैं। पर 'यदि पूर्वोक्त नियमानुसार साक्षी न मिलें' ऐसा मिताक्षरा में लिखा है।

'स्त्रियों के विवाद में स्त्रियां साक्षी होंगी' अबतक इतना ही कह आये हैं। वसिष्ठजी (१६।३०) इस नियम का किंचित् रूपान्तर बताते हैं 'स्त्रियां केवल स्त्रियों हीं के विवादों में साक्षी हो सकती हैं अथवा ऐसे विवादों में जिनका सम्बन्ध स्त्रीजाति से है और जिन्हें स्त्री ही जान सकती हैं।'

'साक्षियों को धर्मानुष्ठान में निर्दोष, राजा के विश्वासपात्र, और रागद्वेषरहित होना चाहिये' ऐसा गौतम ने कहा है (१३।२)।

बौधायन के अनुसार 'चारों जाति के लोग साक्षी हो सकते हैं, जो पुत्रवान् हैं—केवल श्रोत्रिय, राजा, तपस्वी, और जिनकी बुद्धि स्थिर नहीं

है, ये साक्षी नहीं हो सकते' (१।१६।१३)। 'कोई भी हो यदि गुणवान् हो तो साक्षी हो सकता है'—ऐसा आपस्तम्ब का वचन है (२।११।२६।७)।

पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न साक्षी यदि न मिलें तो स्त्री, बालक, अति-वृद्ध, शिष्य, सम्बन्धी, दास तथा भृत्य भी साक्षी हो सकते हैं (मनु ८।७०)। इस पर अपरार्क (पृ० ६७१) का कहना है कि ये तभी साक्षी हो सकते हैं जब रागद्वेषयुक्त या दुष्टाशय न हों। मेधातिथि ((८।७७) के मत में स्त्रियों का साक्ष्य ऐसी ही स्थिति में हो सकता है जब कि तत्क्षण ही उनके पूछने का अवसर हो सके—यदि विलम्ब हुआ तो उनके कोमल स्वभाव पर प्रभाव डाल कर मिथ्या कहलवाने की सम्भावना अधिक हो जायगी॥ स्त्री बालक इत्यादि के कथ्य मिथ्या तभी समझे जायंगे यदि वे असम्बद्ध पाये जाएं या यह स्पष्ट भासित हो कि इनके ऊपर अनुचित प्रभाव डाला गया है (मनु ८।७१)। शत्रु, मित्र और जो बेईमान प्रसिद्ध हैं—वे कभी भी साक्षी नहीं हो सकते (मेधा-तिथि)। साहस, वाक्पारुष्य, दंडपारुष्य, चोरी, व्यभिचार के मामलों में साक्षियों के गुण अवगुण की बहुत परीक्षा नहीं होती (मनु ८।७२; नारद १।१८६)। याज्ञवल्क्य (२।७२) ने भी कहा है कि इन मामलों में सभी लोग साक्षी हो सकते हैं। 'वाक्पारुष्य' से ऐसे अपराध विवक्षित हैं जो छिपकर किये जायं और 'साहस' से ऐसे अपराध जो उद्धत भाव से खुल्लमखुला किये जायं—ऐसा मिताक्षरा का कहना है। विश्वरूप का मत है कि इन मामलों में केवल इतना ही नियम है कि जिन्होंने अपराध को देखा हो वे सब साक्षी हो सकते हैं। नारद के अनुसार सभी भारी मामलों में दास इत्यादि जो अयोग्य साक्षी कहे गये हैं वे भी साक्षी हो सकते हैं। उशनस् के अनुसार 'दास, अन्धा, बहरा, कुष्ठी, स्त्रियां, बच्चे वृद्ध ये सब भी फ़ौज़दारी मामलों में साक्षी हो सकते हैं—केवल इतना निश्चय होना चाहिये की इन्हे किसी तरफ़ का पक्षपात नहीं है। [उशनस् व्यवहारमयूख पृ० ३७)

कौन साक्षी नहीं हो सकते इस के प्रसंग मनुस्मृति में ये वाक्य हैं:— 'जो विश्वास के योग्य नहीं है—जो धर्म नहीं जानता—लोभी—जिसको अपना भी मामला से कुछ मतलब है—मित्र-शत्रु-जिस में दोष देखा जा चुका है—

रोगी, महापातकी, राजा, कारीगर, नाटक खेलनेवाले, श्रोत्रिय, संन्यासी तपस्वी, पराधीन, बदनाम दस्यु (अर्थात् कठोरहृदय पुरुष, अथवा नियत वेतन का भृत्य)—जो अनुचित कामों में लगा है—वृद्ध, बालक, अकेला आदमी अन्त्यज, जिसके इंद्रिय विकल हैं—शोकार्त, मत्त पागल, भूखा, प्यासा, थका हुआ, कामपीड़ित, क्रोधी, चोर—ये साक्षी नहीं हो सकते।

(मनु ८।६३—६७)

अयोग्य साक्षी पांच तरह के माने गये हैं:—(१) शास्त्रनिषिद्ध—जैसे श्रोत्रिय भक्त, अतिवृद्ध तपस्वी। (२) दोषवश—जैसे चोर, डाकू, साहसी, जुआड़ी इत्यादि। (३) विरोधवश—जैसे जो साक्षी बुलाये जाने पर परस्पर विरुद्ध बातें कहें। (४) जो विना बुलाये साक्षी होने आवे उसे साक्षी कभी न बनाना। (५) मरणवश—यदि वादी बीच में मर गया तो उसके लिखाये साक्षियों का साक्ष्य नहीं होगा।

(नारद १।१५७–१६२)

मनुने जितने गिनाये हैं उनके अतिरिक्त नारद (१।१७७।१८७) ने इतने और अयोग्य साक्षी गिनाये हैं—दास, दाम्भिक, श्राद्ध से बहिर्भूत, तेली, असावधान आदमी, ग्रामयाजक, दूर के सफर में व्यग्र, समुद्र पार से आये व्यापारी, हिजड़ा, नास्तिक, व्रात्य, स्त्री का परित्याग करनेवाला, अग्नि का परित्याग करनेवाला, शास्त्रविरुद्ध आहुति देनेवाला, गुप्तचर, सहोदर भाई, प्रसिद्ध पापी, शिल्पजीवी, सांप पकड़नेवाला, विष देनेवाला, घर में आग लगानेवाला, हलवाहा, शूद्र स्त्री का पुत्र, उपपातकी, बड़ा गरीब, ब्रह्मचारी, मूल बेचनेवाला, जिसे भूत लगा है, राजद्रोही, ज्योतिषी, जिसने अपने को बेच डाला है, अंगहीन, भार्याजीवी, काले नखवाला, काले दांतवाला मित्रद्रोही, मद्यविक्रयी जादूगर, जन्तुहिंसक, चर्मकार, राजानुचर, मनुष्यविक्रयी ब्राह्मण, गोविक्रयी ब्राह्मण, मांसविक्रयी ब्राह्मण, मधुविक्रयी, ब्राह्मण, दुग्धविक्रयी ब्राह्मण, जलविक्रयी ब्राह्मण, घृतविक्रयी ब्राह्मण, कुसीद वृत्तिवाले द्विज, पितृद्रोही, श्रेणी का मुखिया, विग्रहोत्पादक।

इसके अतिरिक्त सम्बन्धियों में विशेष कर पिता, चाचा, भाई मित्र मामा; दामाद—ये साक्षी नहीं होसकते (बृहस्पति ७।२९) शुल्काविकृत

(Customs officer.) गुल्माधिपति (Picket officer) दूत, शिरोरोगी; शस्त्रसंग्रही भी साक्षी नहीं हो सकते (शंखलिखित-वीरमित्रोदय १६०) ।

याज्ञवल्क्य में (२।७०-७१) केवल इतनेही गिनाये हैं-स्त्री, बालक, वृद्ध (अर्थात् ८० बरस से अधिक उमरवाला--इसीमें श्रोत्रिय भी अन्तर्गत है-मिताक्षरा), जुआड़ी, पागल, मत्त, महापातकाभियुक्त, नाटक करनेवाला, कूटकृत् (जालिया), अंगहीन, पतित, मित्र (अर्थात् विद्या या जन्म से सम्बद्ध-अपरार्क) जिसका मामला से स्वयं कुछ मतलब हो, पक्षपाती, शत्रु, चोर, आततायी, प्रसिद्ध मिथ्यावादी, परित्यक्त ('सम्बन्धियों से'—मिताक्षरा-'शिष्टजनों से'--अपरार्क) ॥

सारांश यह है कि वे साक्षी नहीं हो सकते जिनके प्रसंग में यह निश्चय है कि उन्होंने कुछ देखा न होगा या वे यथार्थ साक्ष्य नहीं देंगे। (विश्वरूप) ।

अर्थशास्त्र (३।११) में अयोग्य साक्षी ये बताये गये हैं--वादियों का साला, साथी, भृत्य या शत्रु, अंगहीन, राजदंडित-वादियों के पुत्र पौत्र या अविभक्त भाई राजा श्रोत्रिय, ग्रामभृत्य कुष्ठी, व्रणों से पीड़ित, पतित चांडाल नीच वृत्तिवाले, अन्धा बहरा, गूंगा, बिना बुलाये साक्षी बनने वाला स्त्री, राजा के अफसर ॥ पर फौजदारी में ये सब भी साक्षी हो सकते हैं—साला, साथी और शत्रु को छोड़कर ।

गुप्त रीति से छिपे हुए जो कार्य हुए हैं उनके प्रसंग में एक ही आदमी (पुरुष या स्त्री) या जिसने साक्षात् देखा नहीं केवल दूसरोंसे सुना, या जिसने अकस्मात् देख लिया,--ऐसे लोग भी साक्षी हो सकते हैं। राजा और तपस्वी इनमें भी साक्षी नहीं हो सकते। भृत्य के लिये स्वामी, वा स्वामी के लिये भृत्य, शिष्य के लिये गुरु या गुरु के लिये शिष्य, पुत्रों के लिये माता पिता या माता पिता के लिये पुत्र--साक्षी हो सकते हैं, यदि उनकी इच्छा हो ॥ (अर्थशास्त्र ३।१)

के प्रकार के साक्षी होते हैं सो विशद रूप से नारद तथा बृहस्पति ने कहा है।

नारद (१.१४६-१५२) के अनुसार पहला विभाग दो वर्गों में है-(१) कृत'-अर्थात् वादी या प्रतिवादी ने जिनका नाम साक्षी में लिखवाया है; (२) 'अकृत', अर्थात् जिनका नाम वादियों ने नहीं लिखवाया है।

इनमें 'कृत' साक्षी पांच तरह के हैं—(१) 'लिखित'—वादी ने बुलाकर जिससे तमस्सुक पर गवाह लिखवाया। (२) 'स्मारित' जिसने कार्य को देखा है और उसके बाद जिसे उस कार्य की बारबार याद दिलायी गयी पर उसका नाम लेख में नहीं लिखागया। (३) 'यदृच्छाभिज्ञ'— कार्य के समय जो अकस्मात् आगया (विना बुलाये) और उसे कार्यवालों ने कहा 'देखना तुम इसका साक्षी रहना'। (४) 'गूढ़'—कार्य के समय वादी ने जिसे किनारे छिपा रक्खा था जिससे छिपे छिपे सब कार्य को देखले और प्रतिवादी की बातों को सुनले। (५) 'उत्तरसाक्षी'—एक साक्षी की उक्ति को सुनकर उसी सुनी हुई बात को जो कहे॥ 'अकृत' साक्षी के छः प्रभेद हैं—(१) गांव के लोग (२) जज (सभासद, तथा लेखक), (३) राजा, (४) दोनों वादियों के काम काज का जाननेवाला (५) वादी का प्रतिनिधि, (६) वादियों के कुल के लोग॥

बृहस्पति (७।१-५) ने १२ तरह के साक्षी बताये हैं। इन बारहों के लक्षण यों हैं— (१) 'लिखित' साक्षी वह है जिसने दस्तावेज़ पर अपने हाथ से अपना नाम, अपने बाप का नाम, जाति और निवासस्थान लिख दिया था। (२) 'लेखित' वह है जिसका नाम दस्तावेज़ लिखनेवाले ने दस्तावेज में लिखदिया था। (३) 'गूढ़' वह है जिसने दीवार के पीछे छिपकर दोनो वादियों की बातचीत को सुनलिया था और उसे सभा में आकर कहे। (४) 'स्मारित' वह है जो कार्य के समय बुलाकर कार्य का साक्षी बनाया गया था और फिर बार बार स्मरण कराया गया था। (५) 'कुल्य' वह है जिसका दोनों वादियों से सम्बन्ध है, दोनोंसे मैत्री है और जिसे दोनोंने विभाग, दान या विक्रय का साक्षी बनाया था। (६) 'दूत' साक्षी वह है जो प्रतिष्ठित सज्जन दोनों वादियों से आदृत है और दोनों वादियों के बीच जो व्यवहार होनेवाला है उसे देखने और सुनने के लिये भेजा गया था। (७) 'यादृच्छिक' वह है जो जहां व्यवहार हो रहा था वहा अकस्मात् आगया था और वादियों ने उससे कहा 'तुम इसके साक्षी रहना'। (८) 'उत्तर साक्षी' वह है जिसने कार्य के देखनेवाले के मुह से (जब वह देशान्तर जाता था या मर रहाथा) कार्य का ब्योरा सुना था और उसे सभा में आकर कहे। [जो साक्षियो की उक्तियों को सुनकर उन सुनी हुई बातों को सभा में कहे वह भी 'उत्तर साक्षी'

कहलाता है]। (६) 'कूट साक्षी' वह है जिसको विश्वस्त समझ कर दोनो वादियों ने अपना अपना रहस्य बता दिया है, या जिसने छल से कार्य को देख लिया है और उसे सभा में कहने को उपस्थित है। (१०) 'राजा' साक्षी तभी होगा जब एक मामले में दोनो वादियो के कथ्य को सुनकर निर्णय किया है और उसी विषय में फिर दूसरा मामला चलाया गया है। (११) 'जज' 'सदस्य' 'लेखक' इत्यादि साक्षी तभी होगे जब उनके निर्णय का 'पुनर्न्याय' (अपील) का विचार होगा। (१२) 'गांव के लोग' बिना वादियों के कहे भी साक्षी हो सकते हैं—खासकर सीमा के झगड़ों में ॥ (बृहस्पति ७।१-१५)

'लिखित' साक्षी का प्रामाण्य चिरकाल तक स्थिर रहता है; 'स्मारित' साक्षी का आठ बरस तक; 'याहच्छिक' साक्षी का पांच बरस तक; 'गूढ' साक्षी का तीन बरस तक; 'उत्तर' साक्षी का एक बरस तक (नारद १।१-६७-१६६)। इतना कह कर भी नारद (१।१७०) ने कहा है कि 'साक्षियों के प्रामाण्य की इयत्ता (म्याद) नहीं की जासकती। जिस आदमी की बुद्धि और स्मरण शक्ति ठिकाने है सो अधिक समय बीतने पर भी प्रामाणिक साक्षी हो सकता है'। पराशर माधव ने कहा है कि नारद का अपना सिद्धान्त यही है—आठ सात बरसवाला मत परमत है (पृ० ७२)।

साक्षियों की उक्तियो में परस्पर विरोध यदि उनकी बेवकूफी से हुआ है तो यदि स्थान के प्रसंग में विरोध है तो २५०, काल के प्रसंग में विरोध है तो ५०० मुख्य विषय के प्रसंग में विरोध है तो १००० जुरमाना होगा। अथवा यथोचित शारीर ही दण्ड होगा। ऐसा अर्थशास्त्र (३।११) में लिखा है। उसीमें यह भी लिखा है कि मिथ्यावादी साक्षी का जुरमाना विवाद विषय के मूल्य से दशगुना होगा। यदि बुलाये जाने पर साक्षी सभा में न आवे तो उसको २० पण जुरमाना होगा। आने पर भी यदि सात दिन तक कुछ नहीं कहे तो प्रतिदिन १२ पण के हिसाब से जुरमाना होगा। डेढ़ महीने के बाद विवादविषय का मूल्य साक्षी को देना होगा ॥

साक्षियों की उक्ति में विरोध होने पर अधिकतर प्रतिष्ठित साक्षी जो कहें उसेही सत्य मानना। यदि साक्षियों की उक्ति से निर्णय न होसके तो

विवादग्रस्त धन को राजा ज़ब्त करलेगा ऐसा विचित्र सिद्धान्त अर्थशास्त्र (३।११) में पाया जाता है।

यदि दावा से कम धन साक्षियों से प्रमाणित हो तो मुद्दई दावा का पांचवां हिस्सा राजा को देगा यदि दावा से अधिक साक्षियों से प्रमाणित हो तो अधिक भाग राजा का होगा। ऐसा भी अर्थशास्त्र (३।११) में लिखा है।

साक्षी को वृथा दोष लगाने का दण्ड बृहस्पति ने दावा के बराबर जुरमाना बताया है। जब किसी साक्षी के आनेपर प्रतिपक्षी उसके प्रसंग में कोई ऐसे दोष का उद्भावन करे जिससे वह योग्य साक्षी नहीं हो सकता तो उस दोष की जांच पहले करके तब उससे विवादविषयक प्रश्न पूछे जायंगे। माधवाचार्य ने (पराशरमाधव ७३) ऐसी दशाओं की ऐसी कार्रवाई बतलायी है। साक्षी के सभा में आने पर यदि प्रतिवादी कहे 'यह साक्षी योग्य नहीं है, इसमें ये ये दोष हैं" –तो सभ्य उस साक्षी से पूछेंगे–'तुम्हारे प्रसंग में ऐसे ऐसे दोष उद्भावन किये गये हैं क्या ये सत्य हैं ?" यदि वह दूषण को मानले तो उसका साक्ष्य नहीं लिया जायगा। यदि उसने नहीं माना तब दोष लगानेवाले को इन दोषों का साधन करना होगा। यदि साधन न कर सका तो उसे दंड होगा। यदि साधन कर सका तो उक्त साक्षी साक्षी नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में जिस वादी ने ऐसे साक्षी को उपस्थित किया था उसकी हार भी हो जायगी, क्योंकि एक तरह से वादी का दावा भी मिथ्या सिद्ध हो जायगा। पर यदि साक्षियों के दोष ऐसे हैं कि उनसे दावा की सत्यता के विषय में सभ्यों के मन में केवल सन्देह उत्पन्न होगा तब दावा के विषय में और साधनों (सबूत) के सहारे विचार चलेगा। यदि उस साक्षी को छोड़ कर और दूसरा साधन वादी ने नहीं पेश किया है तब साक्षी के दुष्ट सिद्ध होने ही पर मामला समाप्त हो जायगा, वादी की हार हो जायगी। ये सब नियम कात्यायन ने स्पष्ट कर दिये हैं (पराशरमाधव ७४)।

दस्तावेज या साक्षी जो उपस्थित किये गये हैं उनके प्रति यदि दोष उद्भावित करना हो तो जब तक वाद पेश है तभी करना होगा; निर्णय

हो जाने पर उद्भावन करने से कुछ लाभ नहीं। पहले दोष नहीं लगाया गया, साक्षी का इजहार भी हो गया, पीछे से यदि उसके प्रति दोषोद्भावन करे तो क्या तो उचित हेतु बतावेगा कि पहले क्यों नहीं दोषोद्भावन किया गया या २५० जुरमाना देगा। (पराशरमाधव ७४)।

साक्षी यथार्थ दुष्ट है या नहीं इसकी परीक्षा नारद ने बतलाई है- 'मेरा दोष लोगों को विदित हो गया यह जानकर जो साक्षी अस्वस्थ सा देख पड़ता है एक जगह से दूसरी जगह स्थान बदलता है, बिना कारण खोखता है, सास फूलने लगती है, पैर से जमीन खुरुचने लगता है, मुह का रंग बदल जाता है, माथे में पसीना छूटता है-जैसे बड़ी जल्दी में हो, बिना पूछे ही बहुत कह जाता है-ऐसे साक्षी को कूटसाक्षी समझ कर उसे दंड देना' (नारद १।१६३ १६६ पराशरमाधव ७५)॥

साक्षी के पूछने का प्रकार मनु ने बताया है - 'जब साक्षी सभा में उपस्थित हुआ तब वादी प्रतिवादी दोनों के सामने देवता और ब्राह्मण के समक्ष में-पूर्वाह्न में उसे-जज यों कहे-इन दोनों आदमियों के बीच जो व्यवहार है उसके प्रसंग में तुम क्या जानते हो सत्य सत्य कहो तुम इसमें साक्षी माने गये हो। साक्षी यदि सत्य कहता है तो अच्छे स्वर्गलोक को जाता है—सत्य साक्षी पवित्र होता है- सत्य से बढ़ कर धर्म नहीं है, मिथ्या से बढ़कर पाप नहीं' इत्यादि। साक्षी उत्तर या या पूरब मुख कर के बैठाया जायगा। ब्राह्मण का शपथ सत्य से कराया जाय क्षत्रिय को वाहन और अस्त्र से, वैश्य को गाय-अन्न-सोना से, शूद्र को सब पापों से। यह सब विचारकर जैसा तुमने सुना या देखा है वैसाही ठीक ठीक कहो।' (मनु ८।८०-१०१)।

'पगड़ी जूता उतार कर दाहना हाथ उठाकर सोना— गोबर— कुश हाथ में लेकर साक्षी सत्य सत्य सब बातें कहे- ऐसी बृहस्पति की आज्ञा है। उपस्थित विवाद के प्रसंग में साक्षी जो कुछ कहे सभाही में कहेगा अन्यत्र नहीं। स्थावर धन के विवाद में इस नियम का पालन खास कर आवश्यक है, खून के मामले में मुरदा के सामने ही में साक्षी से प्रश्न करना ठीक है। (कात्यायन-पराशरमाधव ७६)॥ जहां सत्य कहने से किसीके-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र के-मरण की सम्भावना हो वहां झूठ कहना —ऐसी स्थिति में सत्य से मिथ्या ही अच्छा है।

ऐसा मिथ्या बोलना भी पाप अवश्य है—पर इसके लिये प्रायश्चित्त सारस्वती इष्टि करली जायगी—ऐसा मनु ने कहा है (८।१०४-१०५ याज्ञवल्क्य २।८३ ।।) दस आदमियों ने साथ साथ जो कुछ देखा है उसका हाल भी साथ ही साथ कहें सो उचित है। जिसे अलग अलग देखा है उसका हाल अलग अलग भी कह सकते हैं। एकही कार्य को कई आदमियों ने यदि भिन्न भिन्न काल में देखा है तहां उनको अलग अलग ही पूछना ठीक है (वशिष्ठ) ।। (पराशरमाधव ७९-८०) जहां पूर्वपक्ष की सर्वांग पुष्टि साक्षी की उक्ति से हुई तहां दावा करनेवाले की जय होगी। देश—काल-अवस्था-द्रव्य-नाम-जाति-परिमाण, इन सब विषयों के प्रसंग में-जैसा वादी ने पूर्वपक्ष में लिखा है-यदि साक्षी ठीक ठीक वैसाही कह दे तो वादी का पक्ष प्रमाणित-सिद्ध-समझाजायगा। (बृहस्पति ७।३२-३३)। यदि साक्षी दावा से कम या अधिक कहे तो दावा सिद्ध नहीं होगा। यदि साक्षी के कहे हुए देश-काल-धन-स्वरूप-संख्या-मास-जाति-आकार पूर्वपक्ष में कहे हुए से न मिलें तो ऐसा साक्ष्य दावा के साधन में निष्फल होगा। (कात्यायन)

'बिना बीमार भये यदि साक्षी ऋण के विवादों में डेढ़ महीने तक साक्ष्य न दे तो ऋण द्रव्य सब उसेही चुकाना होगा और विवादों में विवादविषय का दशमांश उसे जुरमाना देना होगा' (मनु ८।१०७) ।। साक्षी साक्ष्य न दे तो ऋणविवाद में ऋण के तुल्य दण्ड देगा, और विवादों में, ३०० पण' (कात्यायन—माधव ८२)।

'विवाद विषय को जानते हुए भी यदि साक्षी साक्ष्य न देवे तो उसका वही दण्ड होगा जो कूटसाक्षियों के लिये कहा गया है अर्थात् विवाद विषय से द्विगुण दण्ड देगा' (याज्ञ. २।७७ ८३) । लोभ से, मोह से, भय से, मैत्री से, काम से क्रोध से, अज्ञान से या लड़कपन से, साक्षी मिथ्या बोलते हैं। उनके दंड यों हैं । लोभ से मिथ्या बोलनेवाले को १००० जुरमाना—मोह से, २५०—भय से, ५००—मैत्री से, १०००—काम से २५००—क्रोध से १५०० —अज्ञान से २००—लड़कपन से १००' (मनु. ८।१२०- १२१)। साक्षी देने के सात दिन के भीतर जिस साक्षी को कोई बीमारी हो जाय, या घर में आग लगे या कोई सम्बन्धी मर जाय तो (उसे कूटसाक्षी समझ कर) विवादवाला ऋण और

कुछ जुरमाना उससे वसूल करना चाहिये (मनु. ८।१०८)। कूटसाक्षी से विवादविषय से द्विगुण जुरमाना ले, पर ब्राह्मण के केवल देश से निकाल दे (याज्ञ० २।८१)॥

साक्षियों की उक्ति में जहां द्वैध–फरक–पाया जाय तहाँ अधिक साक्षियों की बात का ग्रहण होगा। यदि दोनों तरफ की संख्या बराबर है तो जिधर अधिक गुणवान् साक्षी हों उसे ग्रहण करना। यदि गुणवानों की उक्ति में फरक पड़े तो श्रेष्ठ गुणवान् जैसा कहें उसे मानना। (याज्ञ० २।७८)॥ बृहस्पति ने भी ऐसा ही कहा है पर उनका कहना है कि 'यदि गुणवानों की संख्या दोनों तरफ बराबर हो तो जिधर के गुणवान् अधिक क्रियावान् अर्थात् धर्मानुष्ठान-परायण हों उसको मानना (पराशर-माधव ८३)। मनु के अनुसार 'गुणवानों में द्वैध हो तो ब्राह्मण साक्षी जैसा कहे उसे मानना (माधव ८३)।

'छः तरह के मामलों में साक्षियों की आवश्यकता नहीं होती—(१) घर में आग लगानेवाला यदि जलती हुई उल्का हाथ में लिये ही पकड़ा जाय—(२) मारनेवाला यदि अस्त्र हाथ में लिये ही पकड़ा जाय—(३) स्त्री पुरुष परस्पर आलिंगनादि करते हुए यदि पकड़े जायं-(४) बांध काटनेवाला कोदाली हाथ में लिये ही बांध के समीप यदि पकड़ा जाय-(५) लकड़ी काटनेवाला कुल्हाड़ी हाथ में लिये ही यदि पकड़ा जाय। (६) मारपीट के साफ चिह्न जिसके शरीर पर पाये जायं। (नारद-१-१३२-१३६-पराशर माधव ८४)।

निर्णय होजाने के अनन्तर भी यदि यह निश्चय हो कि जिन साक्षियों की उक्ति के सहारे निर्णय हुआ है उन्होंने मिथ्या कहा था तो जज निर्णय का परिवर्तन कर देगा। और उस निर्णय के अनुसार जो कुछ कार्रवाई हुई होगी सो सब रद्द कर दीजायगी। (मनु ८।११७)

'भुक्ति'

भोग के विवाद अधिकतर स्थावर धन के प्रसंग में हुआ करते हैं। इसलिये स्थावर धन में स्वत्व किस तरह उत्पन्न होता है इसीका विचार निबन्धकार पहले करते हैं।

बृहस्पति ने (७।२) स्थावरधन प्राप्ति के सात निमित्त यों बतलाये हैं— 'विद्या, क्रय (खरीद), बन्धक, शौर्य, भार्या, दाय, निस्सन्तान सपिंड— इन सातों द्वार से प्राप्त स्थावर धन सात प्रकार का होता है'। नारद (४।५) 'धन का आगम छः प्रकार का होता है। लाभ (कहीं जंगल में या पृथिवी के नीचे पड़ा धन पाना), दान, कमाना, शौर्य, विवाह, निस्सन्तान बान्धव।' 'दाय-क्रय-विभाग-परिग्रह-अधिगम ये धनागम के उपाय हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण के लिये प्रतिग्रह, क्षत्रिय के लिये युद्ध में जय (गौतम १०।३६-४१)। मनु ने भी कहा है (१०।११५)।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥

अर्थात् दाय—लाभ (अकस्मात् कहीं धन पाजाना) क्रय-जय-लगानी व्यवसाय—सत्यप्रतिग्रह ये सात धनागम के धर्म्य मार्ग हैं।

येही 'आगम' पद से इस प्रकरण में विवक्षित हैं।

भोग (दखल) प्रमाण (सबूत) तभी समझा जायगा जब पूर्वोक्त आगमों के द्वारा होगा। जैसा हारीत ने कहा है—'बिना जड़ के शाखा आकाश में नहीं बढ़ती। आगम जड़ है और भोग शाखा।' नारद ने भी— 'विशुद्ध आगम ही के द्वारा भोग प्रमाण होता है' (परा माधव १०२) जैसे आगम भोग को प्रमाण बताता है वैसेही दीर्घकाल भी अर्थात् अधिक दिनों तक भोग बना रहा तो प्रामाणिक हो जाता है॥ भोग की पुष्टि के कारण पांच नारद ने बताये हैं—'आगम—दीर्घकाल—कभी बीच में भोग के विच्छेद का न होना—बीच में कभी किसीने विरोध न किया हो—प्रत्यर्थी का न होना।' इन पांचों अंगों में यदि एककी भी कमी हो तो भोग पुष्ट नहीं समझा जायगा। नारद ने यहां तक कहा है—'यदि कोई अपने सबूतों में केवल भोग का उपन्यास करे, किसी तरह का आगम नहीं तो उसे चोर समझना।' 'यदि आगम का लेख (अर्थात् धन कैसे प्राप्त हुआ इसका दस्तावेज़) नष्ट हो गया है और वादी (मुद्दई) केवल भोग पर निर्भर है तो उसे सभा में काल (इतने बहुत दिनों से मेरा दखल रहा है) प्रमाण तथा दान बताने होंगे'—ऐसा कात्यायन ने भी कहा है। (परा० माधव० १०३)।

भोग के विषय में सबसे मुख्य प्रमाण विवादी भूमि के जोतनेवाले ही होते हैं। उनके नीचे गांव के लोग, तब उस भूमि के समीप खेत जोतनेवाले, तब वहा के सीमा के मालिक॥ खेत, घर इत्यादि स्थावर धन के विवाद में यदि प्रतिवादी ने क्रय दान इत्यादि आगम का निषेध किया है तब वादी को अपने पक्ष के साधन के लिये लेख, साक्षी तथा भोग येही प्रमाण उपस्थित करने होंगे। (संग्रहकार-परा० माधव० १०३)॥

भोग दो प्रकार का होता है—सागम, अनागम। अनागम भोग वही प्रमाण होंगा जो तीन पुश्त से निराबाध चला आया है। सागम भोग थोड़े दिन का भी प्रमाण होगा (कात्यायन)। इसीको बृहस्पति ने स्पष्ट रूप से बताया है—'जो भोग तीन पुश्त से लगातार आकर चाैथी पुश्त तक आ गया है वह स्थिर पुष्ट हो गया—उसके प्रसंग में आगम की खोज नहीं होगी। बिना रोक टोक के यदि भोग तीन पुश्त तक स्थिर रहा तो वहां आगम की जरूरत नहीं है—ऐसी स्थिति में भोग ही प्रबल प्रमाण है' (बृह. ६।२६-२७)। व्यास के मत से 'एक पुश्त' का समय २० वर्ष होता है, इस हिसाब से जहा 'तीन पुश्त' का भोग लिखा है तहां ६० बरस का भोग समझा जायगा। पर बृहस्पति के मत से ६० बरस 'तीन पुश्त का समय होता है—'एक पुश्त' बराबर है ३० बरस के (बृहस्पति ८।२३-२४)। एक और स्मृति में २५ बरस 'एक पुश्त' का समय माना गया है। माधवाचार्य (पृ० १०४) का मत है कि साराश यही है कि जितने दिन का हाल लोगों को स्मरण रह सकता है, उससे अधिक काल तक भोग निराबाध रहा तो वह पक्का हो जाता है। इसे कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है—'स्मरणयोग्य काल तक भूमि का भोग आगम सहित ही प्रमाण है—स्मरणयोग्य काल से अधिक काल तक जो रहा है, उसमें आगम है या नहीं, या किस प्रकार से भूमि हाथ आई, यह सब किसीको स्मरण नहीं रह सकता'। इन सब वाक्यों का साराश लिखते हुए माधवाचार्य ने यो लिखा है—"जिस भोग का आरम्भ स्मरणयोग्य काल में, अर्थात् १५० बरस के भीतर, हुआ है, सो भोग आगमसहित ही होने पर स्वत्व का साधक होगा। यदि आगम का पता न चले तो यही स्थिर मानना पड़ेगा कि आगम नहीं है

और बिना स्वत्व ही के यह भोग होता आया है। पर यदि भोग का आरम्भ स्मरणयोग्य काल में, अर्थात् १५० वर्ष के पहले हुआ, तो बिना आगम के भी स्वत्वसाधक माना जायगा" । [यह १५० वर्ष कैसे हुआ समझ में नहीं आता। स्मृतियों में २०, २५, या ३० वर्ष का काल एक 'पुश्त' माना गया है। जिस हिसाब से ६०, ७५, या ९० वर्ष तीन 'पुश्त' (पुरुष) का काल होगा।]

ब्रह्मचारी के धन के प्रसंग में नारद (४।८) का वचन है कि समावर्त्तन के बाद यदि ५० वर्ष तक वह अपने धन को दूसरे के भोग में छोड़ दे तो वह धन उसके हाथ से चला जायगा।

इस विषय में याज्ञवल्क्य का वचन है—

आगमोऽभ्यधिको भोगाद् विना पूर्वक्रमागतात्।
आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकाऽपि यत्र नो॥

इसका अर्थ मिताक्षरा ने दो प्रकार का बतलाया है। एक के अनुसार—(अ) पहले पुश्त में साक्षियों से प्रमाणित आगम भोग से अधिक बलवान है— (क) चौथे पुश्त में कई पुश्तों का भोग लेखप्रमाणद्वारा प्रमाणित आगम से अधिक बलवान है-(च) दूसरे तीसरे पुश्तों में थोड़े से भी भोग से उपोद्बलित आगम भोगरहित केवल आगम से अधिक बलवान् है॥ दूसरी व्याख्या के अनुसार-(अ) स्वत्व के साधन में आगम भोग से अधिक बलवान् है-क्योंकि निरा भोग बलात्कार से भी हो सकता है इसलिये केवल भोग स्वत्व नहीं सिद्ध कर सकता जब तक आगम से बलित न हो। यह साधारण नियम 'स्मरणयोग्यकाल' के भीतर लागू होता है।-(क) कभी कभी बिना आगम के निरा भोग भी स्वत्व का साधक होता है-जैसे जब लगातार तीन पुश्त तक निराबाध चला आया है। पर 'बिना आगम' इससे यह नहीं तात्पर्य है कि आगम हुआ नहीं। तात्पर्य इतनाही है कि 'आगम ज्ञात नहीं है'।

आशय यह है कि (अ) स्मरणयोग्य काल के भीतर यह निश्चय हो सकता है कि आगम है वा नहीं इसलिये भोग का प्रामाण्य आगम पर ही निर्भर होगा-(क) पर स्मरण योग्य काल के बाद इसका निश्चय होना कठिन है कि आगम नहीं है। इसलिये आगम के अज्ञात होने पर भी

लगातार भोग स्वत्व का साधक होता है । 'स्मरणयोग्यकाल' १०० वर्ष मानागया है । इसलिये १०० वर्ष से पूर्व के विषय में यदि यह सिद्ध होजाय कि प्रतिवादियों के समक्ष निराबाध भोग बराबर चला आया है और आगम है या नहीं इसका सन्देह है-तो यह निराबाध भोग ही इस बात का सूचक होगा कि आगम अवश्य रहा होगा और इससे स्वत्व भी सिद्ध माना जायगा । पर यदि इन १०० वर्षों में बराबर यह लोगों को निश्चित रूप से ज्ञात रहा है कि बिना आगम के ही भोग हो रहा है-तो ऐसी स्थिति में भोग स्वत्व का साधक नहीं होगा ॥ पर आगम सबलोगों के ज्ञात होते हुए भी यदि भोग नहीं है तो ऐसा आगम भी भोग का साधक नहीं होगा । क्योंकि ऐसी स्थिति में यह सन्देह बना रहेगा कि आगम के बाद धन किसीको दे दिया गया हो या बेच दिया गया हो ॥

स्मरणयोग्य काल के भोग के प्रसंग में भी एक बात यह है कि इन १५० या १०० वरसों में यदि बराबर लोगों में यह संशय प्रसिद्ध रहा है कि यह आदमी बिना आगम के भोग कर रहा है तो यह भोग स्वत्व का साधक नहीं होगा । नारद ने कहा है कि सैकड़ों बरस भी यदि कोई बिना आगम के धन का भोग करे तो उसे चोरवत् दंड देना । 'आगमबिना भोग' वह कहा जाता है जो -- (१) दूसरे आदमी को देने के लिए उसके हाथ में किसीने दिया और उसने उस आदमी को न देकर अपनेही पास उस धन को रख लिया या (२) किसीसे चुरा लिया या (३) किसीका धरोहर था उसे रख लिया या -- (४) जबर्दस्ती लेलिया या (५) असली मालिक से छिपा कर भोग कर रहा है या---(६) किसीसे मांग कर लाया लौटाया नहीं । हारीत का एक वचन इसका उलटा पाया जाता है—'अन्याय से भी जो धन किसीने तीन पुश्त तक भोगा है सो उससे नहीं छीना जा सकता' । पर इसका अर्थ माधवाचार्य (१०५) यह कहते हैं कि 'जब अन्याय से भोगा हुआ भी धन छीनना कठिन है तो न्याय से भोगे हुए का क्या कहना'' ।

'तीन पुश्त' से अधिक भोग रहने पर भी यदि यह पाया जाय कि इससे भी पहले विवादविषय भूमि राजा ने दूसरे को दिया था—और यह दानपत्र मिल जाय तो भोग स्वत्व का साधन नहीं होगा'

(बृहस्पति ६।३०) ॥ यद्यपि पितामह ने कहा है कि—'आगम—राजा का दानपत्र—तीन पुश्त का भोग इनमें भोग—सबसे प्रबल है—दानपत्र उससे दुर्बल और आगम उससे भी दुर्बल—पर माध० (१०६) के मत से यहां उस भोग से तात्पर्य है जो निश्चित आगम से प्रमाणित है ।

जिस भाग में विच्छेद नहीं हुआ है वही भोग प्रमाण है 'बहुत दिन अविच्छिन्न भोग शास्त्र में प्रमाण समझा गया है' ऐसा बृहस्पति ने कहा है (६।३१) ।

भोग के प्रामाण्य के विषय में अपवाद भी पाये जाते हैं— यथा याज्ञवल्क्य (२।२६)—'धन का ग्रहण करनेवाले के ऊपर नालिश होने के बाद यदि वह मर जाय तो उसके उत्तराधिकारी को उस नालिश का उत्तर देकर अपने स्वत्व को प्रमाणित करना होगा—केवल भोग से उसका स्वत्व प्रमाणित नहीं होगा' । पर स्वत्व न सिद्ध करने से अपराधी और दंडनीय भोगकरनेवाला होगा उसके अधिकारी नहीं । ऐसा स्मृत्यन्तर में कहा है (माधव० १०६) । कात्यायन ने कहा है 'भूमि का दखल करनेवाले को भोग करते हुए भी लेखप्रमाण से स्वत्व को प्रमाणित करना होगा । पर उसके लड़के को केवल भोग सिद्ध करना होगा' । इसका तात्पर्य यही है कि बिना आगम के दखल करने का दंड दखलकरनेवाले पर होगा उसके लड़के पर नहीं ।

कहीं कहीं भोग ही सबसे प्रबल स्वत्वसाधक माना गया है । जैसे रास्ता, जल बहने का मार्ग— ऐसे विषयों में सब प्रमाणों में भोग ही प्रबल है (कात्यायन, पराशरमाधव १०७) । नारद ने तो यहां तक कहा है कि 'लेख है' साक्षी भी जीवित हैं, पर यदि भोग नहीं है, तो स्वत्व स्थिर नहीं है, खास कर स्थावर धन में' । पर ये अत्युक्तियां हैं । असल सिद्धान्त कात्यायन ने बतलाया है—'धन के आहर्ता को या उसके पुत्र को भोग के ऊपर अवलम्बन नहीं करना चाहिये' ।

यद्यपि याज्ञवल्क्य (२।२४) ने लिखा है 'यदि कोई अपनी भूमि को दूसरेसे भोगी हुई देखता हुआ भी २० बरस तक कुछ न बोले तो उसके लिये उस भूमि की हानि होगी' । इसका तात्पर्य पराशरमाधव (पृ० १०८) के मत से इतना ही है—यदि २० बरस तक भूमि का

मालिक उपजा के लिये आसेध न करे तो फिर उस भूमि का उपजा उसे नहीं मिलेगा । यह आशय नहीं है कि उस भूमि से उसका स्वत्व ही चला जायगा ।

याज्ञवल्क्य के इस वाक्य पर मिताक्षरा में बहुत सूक्ष्म विचार पाया जाता है । मिताक्षरा के अनुसार श्लोक का अर्थ यों है-अपनी भूमि या और कोई धन, पराया-अर्थात् जिससे कोइ सम्बन्ध नहीं है-आदमी भोग रहा है सो देखते हुए भी यदि कुछ न बोले-अर्थात् भोगनेवाले से न कहे कि 'यह मेरी भूमि है तुम क्यों भोग रहे हो'-तो बीसबरस यदि ऐसा भोग बराबर बिना रुकावट के चला चले, तो इस निराबाध भोग के कारण बीस बरस के बाद वह भूमि उस आदमी की जाती रहेगी । और धन-अर्थात् हाथी घोड़ा रथ इत्यादि के विषय में दस बरस के भोग के बाद बेदखली होगी ॥

यहां इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह शंका हो सकती है कि "किसी आदमी ने भोग करनेवाले को मना नहीं किया इससे उसका स्वत्व क्यों चलाजायगा?' स्वत्व खोने के कारण तो शास्त्रों में केवल दान और विक्रय बताया है । लोक-व्यवहार में भी ऐसाही पायाजाता है ॥ फिर बीसबरस के भोग से दूसरे का स्वत्व उत्पन्न होजाय यह भी नहीं हो सकता । स्वत्व केवल दाय-क्रय-परिग्रह-विभाग-अधिगम-प्रतिग्रह-विजय-भृति इन्हीं आठ कारणों से उत्पन्न होता है ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है (गौतम) । इनमें 'भोग' का नाम नहीं है । याज्ञवल्क्य का वचन ही स्वत्वोत्पत्ति में प्रमाण है-सो कहना ठीक नहीं । क्योंकि स्वत्व की उत्पत्ति केवल शास्त्र के वचन हीं पर निर्भर नहीं है-लोक व्यवहार ही पर यह निर्भर है । फिर गौतम के वचन में तो आठ ही कारण से स्वत्व उत्पन्न हो सकता है—ऐसा नियम कर रक्खा है । नारद का भी स्पष्ट वचन है—बिना आगम के यदि कोई किसी धन का भोग सैकड़ों वर्ष भी करे तथापि उसका दंड चोर की तरह होगा । इससे भी स्पष्ट है कि बिना आगम के केवल भोग से स्वत्व नहीं उत्पन्न हो सकता ॥ कात्यायन ने भी कहा है— धन के आहरण करनेवाले को या उसके लड़के को केवल भोग का सहारा नहीं रखना चाहिये । इन सब युक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि भूमि या और किसी

धन की केवल उपभोग से हानि नहीं हो सकती ॥ यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि बीस बरस के भोग के बाद मालिक को उसके प्रसंगमें नालिश या दावा करने का भी अधिकार नहीं रहेगा। क्योंकि दावा करने का अधिकार कैसी स्थिति में नही रहेगा इसके कारण स्मृतियों में और ही बतलाये गये हैं। इससे 'पश्यतोऽब्रुवतः' इस याज्ञवल्क्य के वचन का कुछ और ही अर्थ करना होगा।"

इन शंकाओं का समाधान मिताक्षरा (३२५) में यों किया गया है— 'भूमिहानि' से यह मतलब है कि भूमि का फल नष्ट होता है-न भूमि का नाश, न व्यवहार का नाश। अर्थात् भूमि भर स्वामी का स्वत्व नहीं नष्ट होता, उसपर दावा करने का अधिकार भी नही नष्ट होता। और यद्यपि बीस बरस निराबाध भोग के बाद भी भूमि का असल स्वामी भूमि पावेगा, किन्तु गत बीस वर्ष में जो उससे उपजा या आमदनी हुई होगी सो नहीं पावेगा। पर यदि भोग स्वामी के समक्ष नहीं हुआ उसके परोक्ष में हुआ तो जमीन के साथ वह उतने दिनों का उपजा भी पावेगा। इसी मतलब से याज्ञवल्क्य ने 'पश्यतः' 'देखते हुए' और 'अब्रुवतः' 'नही टोकते हुए'- ये दो विशेषण लगाये हैं। बीस बरस के पहले. बिना टोके हुए भी स्वामी भूमि अवश्य पावेगा। नारद ने जो अनागम भोग का दंड बतलाया है सो ठीक ही है—२० बरस के बाद स्वामी जमीन पावेगा- उपजा नहीं पावेगा, पर अनागम भोग करने वाला दंड भी पावेगा और बीस बरस का जितना उपजा सम्भावित हो सो हिसाब करके उसका मूल्य उसे जुरमाना रूप से देना होगा। साराश यह है कि (१) भूमि पर उसका स्वत्व सिद्ध हुआ इससे भूमि उसको मिलेगी. पर (२) अपने धन के प्रति जो उल्लूपना उसने की तिसके बदले उतने दिन की आमदनी गई, उसे नहीं मिली, राजा को जुरमाना रूप में मिली, (३) भोग करनेवाले को भी जितना उसने खाया उतना उसे देना पड़ा ॥

विश्वरूपाचार्य की व्याख्या इस याज्ञवल्क्य वचन की कुछ दूसरी तरह की है- "अपनी जमीन को पराये आदमी से भोगी हुई देखते हुए भी जो बहुत दिन तक कुछ न बोला तो वह जमीन उसकी न रही यही आशय है।" 'बीस बरस' इस खास संख्या से मतलब नहीं है ॥

यहां यह कहा जा सकता है कि—"यह तो ठीक नहीं मालूम होता कि बेचारा कुछ बोला नहीं इससे उसका धन ही नष्ट हो जाय।" इसका उत्तर यही है कि शास्त्र की आज्ञा ऐसी ही है, फिर क्या किया जाय। पर शास्त्र का भी तात्पर्य यही है कि अपने धन की यदि कोई उपेक्षा करता है, उसकी रक्षा सावधानता से नहीं करता, तो वह धन नष्ट होता ही है—इसलिये यदि अपना धन पराया आदमी भोगता हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करना। यही उपदेश शास्त्र कहता है॥ यह प्रश्न उठता है—"यदि स्वामी की जमीन न रही, उसका स्वत्व उसपर नष्ट हो गया, तो क्या जो पराया आदमी उसका भोग करता आया है उसका स्वत्व उत्पन्न होगया?"॥ इसका उत्तर यह है कि पहिले मालिक का स्वत्व जाता रहा—बस इतना ही शास्त्र का तात्पर्य है— पराये आदमी का तो नहीं ही होता है—क्योंकि वह तो आरम्भ से ही उसे पराया जान कर ही भोग रहा है। तो फिर धन की क्या गति होगी। पहले स्वामी का स्वत्व जाता रहा—भोग करनेवाले का स्वत्व उत्पन्न नहीं हुआ—तो ऐसी दशा में अस्वामिक होने पर धन राजा के हाथ चला जायगा, अथवा पहले स्वामी ही को दे दिया जायगा। क्योंकि असल में उसका स्वत्व एक दम जा नहीं सकता है॥ और बात भी असल यही है कि याज्ञवल्क्य का मतलब केवल इसी उपदेश से है कि अपने धन की उपेक्षा नहीं करना—'धननाश हो जायगा' यह उस उपदेश की पुष्टि में अर्थवादमात्र है। जिसका भी अर्थ इतनाही है की यदि उपेक्षा करेगा तो फिर दावा करने की योग्यता उसमें नहीं रह जायगी॥

अपरार्क और वीरमित्रोदय (याज्ञवल्क्यटीका) के मत से भूमि ही बेदखल होजायगी— 'हानि' पद का अर्थ उन्होंने 'स्वस्वामिसम्बन्धाभाव' बतलाया है। वीरमित्रोदय में 'हानि' का अर्थ 'वध', नाश, बतलाया है। भूमि के अतिरिक्त धन दस ही वर्ष में बेदखल हो जाता है। इसका कारण यह है कि यदि भोग करनेवाले से अतिरिक्त किसीका स्वत्व होता तो यह सम्भव नहीं था कि वह स्वामी इतने दिनों तक कुछ टोक चाल न करता। इस लिये ऐसी स्थिति में भोग स्वत्व ही का प्रमाण माना गया है। (अपरार्क)। पर ऐसी बेदखली बन्धक, सीमा, धरोहर, राजा का धन,

बालकों का धन, जड़ों का धन, स्त्रियों का धन, श्रोत्रियोंका धन—इन विषयोंमें नहीं होगी (याज्ञ० २।२५) । मनु का भी यही सिद्धान्त है—उक्त समय, २० वर्ष, के बाद पूर्व स्वामी उस भूमि के ऊपर दावा भी नही कर सकेगा (नारद—अपरार्क पृष्ठ० ६३२) । ब्रह्मचारियों के धन में बेदखली की अवधि ५० वर्ष बतायी गई है । इसका कारण यह है कि ४८ वर्ष चारों वेदों के पढ़ने में लगेंगे ; विद्यार्थियों और शिल्पियों के धन में अवधि उनकी शिक्षा की समाप्ति रक्खी गई है (कात्यायन—पराशरमाधव पृष्ठ १०६) ॥ सवारी, गहना इत्यादि जो मंगनी दी गयी है सो यदि चार पांच बरस तक न मांगी जाय तो मंगनी लेनेवाले की हो जायंगी—ऐसा मरीचि का वचन है; पर मनु ने इसका अपवाद किया है । 'सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यति कदाचन' । अर्थात् प्रीति से जिस धन का भोग कोई कर रहा है तो उसमें बेदखली नहीं होती । मंगनी के विषय में भी व्यास ने कहा है—'जो वस्तु श्रोत्रिय या राजपुरुष लोग या मित्र या बान्धव मांग कर भोग करें उस भोग से उसकी बेदखली नहीं होती' । बृहस्पति कहते हैं— 'बिना आगम के यदि मित्र, बन्धु या सकुल्य किसीके घर या खेत का भोग करें तो इस भोग से बेदखली नहीं होती' ।

'एकही दानपत्र में यदि गांव, खेत, बगीचा इत्यादि सब लिखे हैं तो यदि इनमें से किसी एक अंश का भोग (दखल) किसीको है तो उन सबोंका दखल समझा जायगा (बृहस्पति—पराशरमाधव)

इस विषय पर वीरमित्रोदय व्यवहार प्रकाश में (पृ० २०२-२२२) बड़ा लम्बा विचार किया गया है । यहां भी मित्रमिश्र का अपना सिद्धान्त वही है जो उन्होंने याज्ञवल्क्य की टीका में लिखा है । विश्वरूप तथा मिताक्षरा के सिद्धान्तों को उन्होंने नहीं माना है ।

दिव्य

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥

यह याज्ञवल्क्य का बचन है (२—२२) । इनमें लिखित-साक्षी-भुक्ति इन तीनों का निरूपण हो चुका । अब दिव्य का निरूपण बाकी है ।

दिव्य की सबसे प्राचीन चर्चा हम छान्दोग्य उपनिषद् में पाते हैं

(६।१६) जहां तप्तलौह के द्वारा चोर के खोजने का वर्णन पायाजाता है। धर्मसूत्रों में केवल आपस्तम्ब (२।११।२६।६) में दैव प्रमाण की चर्चा-मात्र पाई जाती है। मनु (८।१०६–११६) ने शपथों का विधान कहा है, पर दिव्य की चर्चा केवल एक श्लोक (८।११४) में है–जहां अग्निविधि और जलविधि दोही कहा है। विष्णु-धर्मसूत्र में घट-अग्नि-जल-विष-कोश इन पांच दिव्यों का विधान है (अध्याय ६-१४)। याज्ञवल्क्य ने भी पांच कहे हैं (२।६५)। नारद (ऋणादान २५२) ने भी पांच ही का वर्णन किया है, पर इन्होंने इन पांचों के अतिरिक्त 'तप्तमाष' (३४३) तथा 'तण्डुलभक्षण' (३३७) की भी चर्चा की है। दिव्यों का विधान वृहत् रूप से पितामह-स्मृति में पायाजाता है। एक प्राचीन लेख ई० १२०१ का मिला है जिसमें भूमि के प्रसंग में 'कालदिव्य' का वर्णन पायाजाता है॥ यहां जो दिव्य का निरूपण करेंगे सो व्यवहार-मयूख (पृ० ४४-८८) के आधार पर और व्यवहारमयूख ने प्रायः मिताक्षरा ही का अनुसरण किया है।

'मानुष प्रमाण'–लेख, भुक्ति, साक्षी–से जिस अर्थ का निर्णय न होसका उसका निर्णय जिस 'अमानुष' प्रमाण से हो उसे 'दिव्य' कहते हैं। लेख-साक्षी-भुक्ति ये लौकिक प्रमाण हैं और जिस प्रमाण का अब वर्णन होगा वह अलौकिक, दैवी, है इसी से इसका नाम 'दिव्य' हुआ।

दिव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) तत्क्षणजिससे निर्णय होजाय, (२) जिससे कालान्तर में निर्णय हो। तत्क्षण निर्णायक प्रमाण नौ तरह के बृहस्पति ने गिनाये हैं—

घटे[1]ऽग्नि[2]रुदकं[3] चैव विषं[4] कोश[5]श्च पञ्चमम्।
षष्ठं च[6] तण्डुलाः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमाषकाः[7]।
अष्टमं[8] कालमित्युक्तं नवमं धर्म[9]जं स्मृतम्॥

इन में पहले पांच—घट (तुला)–अग्नि–जल–विष–कोश का प्रयोग केवल बड़े मामलों में होगा' (याज्ञ० २।६५)। अर्था् जिसमें १००० से अधिक द्रव्य का विवाद है या जिसमें महापातक का दोष

लगाया गया है (अपरार्क) 'खास कर उन मामलों में जिनमें अभियोक्ता ने यह स्वीकार किया है कि यदि अभियुक्त (मुद्दालह) दिव्य से उत्तीर्ण होकर निर्दोष ठहरे तो जो दोष इसे मैंने लगाया है उसका उचित दंड मैं भोगूंगा' (याज्ञ० २।९५) ।

कालान्तर निर्णयाक दिव्य का नाम हैं 'शपथ' । शपथों का परिगणन नारद ने यों किया है (१।२४८–२५०)

सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च ।
देवतापितृपादांश्च दत्तानि सुकृतानि च ।
स्पृशेच्छिरांसि पुत्राणां दाराणां सुहृदां तथा ।
अभियोगेषु सर्वेषु कोपपानमथापि वा ।

शपथों के विषय में मनु ने कहा है (८।११३—११४) 'ब्राह्मण को सत्य का शपथ कराना, क्षत्रिय को वाहन और अस्त्र का, वैश्य को गाय बीज, सुवर्ण का, शूद्र को सब पापों का, अथवा पुत्र या स्त्री का माथा स्पर्श कराया जाय' । शपथ करने के बाद २४ दिन तक यदि शपथ करनेवाले के घर में राजा या दैवकृत कोई विपत्ति न आपड़े तो वह शुद्ध समझा जायगा । (याज्ञ० २।११३)

किससे दिव्य कराया जाय—'मद्दई से या मुद्दालह से'-इस प्रसंग में याज्ञवल्क्य २।९६) का मत है कि राजा जिससे चाहे उससे करावे। पर मयूखकार का मत है कि यह तभी हो सकता है जब दोनों दिव्य लेने को राजी हैं—यदि मुद्दई को दिव्य करना स्वीकार नहीं है तो मुद्दालह को कराना होगा । कात्यायन ने तो कहा है कि मुद्दई से कभी दिव्य नहीं कराया जायगा मुद्दालह से ही दिव्य कराया जायगा ।

किससे कौनसा दिव्य कराया जाय इस विषय में याज्ञवल्क्य की आज्ञा यों है (२।९८)

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥

इसका अर्थ विश्वरूप ने ऐसा किया है—स्त्री बालक वृद्ध रोगी (क्षत्रिय वैश्य शूद्र) ब्राह्मण इनका तुला (घट) दिव्य होगा । अथवा अशूद्र

(क्षत्रिय वैश्य का) अग्नि दिव्य और जल दिव्य, अर्थात् क्षत्रिय का अग्नि वैश्य का जल, फिर शूद्र का विष के साथ यव अर्थात् विषदिव्य। मिताक्षरा के अनुसार सभी जाति के स्त्री-बालक-वृद्ध-अन्ध पंगु-रोगी और ब्राह्मण को घटदिव्य; क्षत्रियों को अग्नि, वैश्यों को जल, शूद्रों को विष। पितामह के वचन में स्पष्ट ऐसा ही विधान लिखा है (मिताक्षरा ५४५)। फिर पितामह का ऐसा भी वचन है कि सभी जाति के लिये कोशदिव्य से शुद्धि होती है अथवा सभी के लिये सभी दिव्य हो सकते हैं, केवल ब्राह्मण को विष-दिव्य नहीं होगा। नारद ने विशद रूप से यों कहा है—क्लीव, बलहीन, भीतर से पीड़ित, बाल, वृद्ध, आतुर, स्त्री इनकी परीक्षा घटदिव्य से करना। स्त्रियों के लिये विष नहीं, न जल; उनके अन्तःकरण की परीक्षा घट और कोश से करना। आर्तों के लिए जल नहीं, पित्तरोगियों के लिये विष नहीं, श्वेत-कुष्ठ, अन्ध इत्यादि के लिये अग्नि नहीं; स्त्रियां बालक जल में न डालें जायं, न रोगी वृद्ध या दुर्बल पुरुष। ऐसे लोगों को पानी में डालने से उसी क्षण मरने की सम्भावना रहती है। विकट से विकट साहस से भी क्यों न अभि-युक्त हों इन्हें जल अग्नि या विष दिव्य नहीं कराना। कात्यायन ने कहा है—लोहारों को अग्निदिव्य नहीं, जलसेवियों को जल दिव्य नहीं, मंत्र-योग जाननेवालों को विषदिव्य नहीं, व्रती या मुखरोगवाले को तण्डुल-दिव्य नहीं कराना। पितामह का वचन है—मद्यप, व्यभिचारी, जुआड़ी, नास्तिकवृत्ति—इन्हें कोशदिव्य नहीं कराना।

यदि अभियुक्त किसी दुर्निवार कारण से दिव्य लेने में असमर्थ हो तो प्रतिनिधिद्वारा भी दिव्य का प्रयोग हो सकता है। एक विलक्षण वचन कात्यायन का यह है कि जो पुरुष एक बार महापातकी सिद्ध हो गया है वह यदि फिर किसी महापराध से अभियुक्त हो तो उस आदमी से दिव्य नहीं कराना। उसके प्रतिनिधिरूप से किसी सच्चरित्र आदमी के द्वारा या उसके सम्बन्धी के द्वारा दिव्य कराना।

दिव्य का समय कौन सा ठीक है इस विषय में पितामह अगहन चैत, वैशाख बता कर फिर कहते हैं—घटदिव्य सभी ऋतुओं में हो सकता है—केवल हवा तेज चलती हो तब नहीं कराना। अग्निदिव्य शिशिर हेमन्त तथा वर्षा ऋतु में कराना, जलदिव्य शरद् ग्रीष्म में, विषदिव्य हेमन्त

शिशिर में, अग्नि घट तथा कोश दिव्य पूर्वाह्न में, जल दिव्य मध्याह्न में, रात के पिछले पहर में विषदिव्य। ये सब दिव्य रविवार को होना चाहिये।

दिव्य कहां देना? पवित्र स्थान में निश्चल पूर्वाभिमुख बैठ कर घट-दिव्य करना, इन्द्रस्थान में (अर्थात् प्रसिद्ध मन्दिर में), सभा में, राजद्वार पर या चौरस्ते पर। महापातकियों का दिव्य प्रसिद्ध मन्दिर में-राजद्रोहियों का राजद्वार पर—प्रतिलोम वर्णसकरों का चौरस्ते पर—और सभों का सभा में।

इन सब दिव्यों का सविस्तर विधान व्यवहारमयूख (पृ. ५२–८७) में है। कुछ प्रक्रियायें ऐसी हैं जो सभी दिव्यों में आवश्यक समझी गयी हैं। वे यों हैं:—जज पूर्वाभिमुख हो कर घट स्थापन करे, और उस घट में धर्म का आह्वान करे। फिर उस घट की दशों दिशा मे दशों दिक्पाल का आह्वान होगा। इन्द्र पीतवर्ण, यम श्यामवर्ण, वरुण स्फटिकसदृश, कुबेर और अग्नि सुवर्णसदृश, निऋति श्यामवर्ण, वायु धूम्रवर्ण, ईशान रक्तवर्ण–इस प्रकार दिक्पालों का ध्यान है। इन्द्र की दाहिनी ओर आठों वसु का आह्वान। इन्द्र ईशान के मध्य में आदित्यों का आह्वान; अग्नि के पीछे रुद्रों का आह्वान, यम और निर्ऋति के बीच में माताओं का आह्वान; निऋति की उत्तर ओर गणेश का; वरुण की उत्तर मरुतों का; घट के उत्तर भाग में दुर्गा का आह्वान। फिर इन देवताओं की अलग अलग पूजा। चारों दिशा में घृत से प्रणवसहित सावित्री मन्त्र से होम।

जिस अपराध का अभियोग लगाया गया हो, उसको एक पत्र पर लिख कर के माथे में लगावे।

१—घटदिव्यप्रयोग

दिव्य का कर्ता, राजा या जज शुभ दिन में किसी यज्ञीय वृक्ष के समीप जाय, मन्त्र पढ़ कर वृक्ष को सिक्त करे—इन्द्रादि दश दिक्पालों को प्रत्येक नमस्कार, फिर उस लकड़ी का चार हाथ लम्बा तुला बनावे—सात हाथ या पांच हाथ लम्बा चौड़ा, चार अङ्गुल ऊँचा वेदी बनावे उस वेदी पर दो खम्भा-दो हाथ के अन्तर पर। उन खम्भों पर तराजू बांधे। तराजू के फलकों पर कुश फैलाया जाय। इसके बाद एक दिन या यदि

बड़ा अभियोग है तो तीन दिन उपवास किया हुआ अभियुक्त रविवार को सूर्य्योंदय के बाद सचैल स्नान करा के शुद्ध किया जाय। एक दिन उपवास किया हुआ जज पश्चिम ओर के तराजू पर अभियुक्त को बैठावे और तराजू के पूरब की ओर ईंटा पत्थर इत्यादि रख कर के बराबर तौले। सत्यवादी ब्राह्मण और सुनार लोग जांच कर के 'तौल ठीक हुआ' सो देखेंगे। तौलने के समय जिस स्थान में जिस प्रकार तराजू पर अभियुक्त बैठा रहेगा, सो ठीक तराजू में निशान करके अभियुक्त को उसपर से उतार देंगे। फिर अभियुक्त देशकाल का वर्णन करके 'मैं अपनी शुद्धि को प्रमाणित करने के लिये अमुक दिव्य करता हूं' यह सङ्कल्प करके एक जज को और चार ऋत्विक् को बरण करे। तदनन्तर जज घट में धर्म का आवाहन करके फिर अङ्गदेवताओं का आवाहन करे। पूर्व आहूत देवताओं की पूजा जज करे।

इसके बाद चारो ऋत्विक् अग्निस्थापन करके प्रणवसहित गायत्री मन्त्र से एक सौ आठ होम करेंगे।

जो अभियोग लगाया गया है उसको मन्त्र सहित पत्र पर लिख कर अभियुक्त के सिर पर रखेंगे।

इसके बाद जज घट का स्पर्श करके एक मन्त्र पढ़ेगा—जिसका अर्थ यों है—"हे घट! तुमको ब्रह्मा ने दुष्टों की परीक्षा के लिये बनाया है। तुम सब जन्तुओं का पापपुण्य जानते हो। इस मनुष्य को व्यवहार में दोष लगाया गया है जिस दोष से यह अपनी शुद्धि चाहता है। कृपा कर इसको इस संशय से बचाओ"। तब अभियुक्त एक मन्त्र पढ़ कर तुला की प्रार्थना करेगा जिसका अर्थ यों है—"हे तुले! तुम सत्य के धाम हो, सत्य का निर्णय करके मुझे संशय से बचाओ। हे माता! यदि मैंने पाप किया है तो मुझे नीचे करो, यदि मैं शुद्ध हूँ तो मुझे ऊपर करो।" तब जज माथे पर पत्र रक्खे हुए अभियुक्त को पहिले की तरह तराजू पर बैठावे। उस समय तराजू का नीचा ऊंचा होना देख कर तदनुसार अभियुक्त शुद्ध ठहरा या दोषी सो परीक्षा करके पवित्र ब्राह्मण लोग राजा और सदस्यों के पास निवेदन करेंगे। इसके अनन्तर तराजू पर

से उतर कर अभियुक्त, जज, ब्राह्मण और ऋत्विक् लोगों को दक्षिणा से सन्तुष्ट करके सब सामग्री जज को समर्पण कर देगा।

२—अग्निदिव्यप्रयोग

एक दिन पहले भूमिशुद्धि करके दूसरे दिन नौ मंडल बनाये जायं। इन मंडलों में अग्नि वरुण वायु यम इंद्र कुवेर सोम सवितृ तथा बिश्वेदेव की पूजा करके मंडल के दक्षिण भाग में आग जलाकर १०८ आहुति जज शान्त्यर्थ करेगा। गोला चिकना आठ अंगुल मोटा ५० पल तौल में लोहे का पिंड उसी अग्नि में डाला जायगा। जब तक यह लोहपिंड गरम हो रहा है तबतक पूर्वोक्त प्रक्रिया धर्मावाहन से लेकर हवन पर्यन्त सम्पन्न की जायगी। फिर पिंडस्थ अग्नि के प्रति मन्त्र पढ़ा जायगा जिसका अर्थ यों है—"हे अग्नि! तुम चारों वेद हो, तुमही में यज्ञों का होम होता है—तुम सब देवताओं के मुख हो, तुम मनुष्यों के जठरस्थ हो कर सब पुण्यपाप समझते हो, पाप की शुद्धि करते हो इसीसे पावक कहलाते हो; तुम मनुष्यों के भीतर साक्षीवत् रह कर जिसे मनुष्य नहीं जानते उसे भी जानते हो। यह मनुष्य व्यवहार में अभियुक्त हुआ—अपनी शुद्धि चाहता है। तुम कृपाकर इसे इस संशय से त्राण करो"। फिर तप्त लोहपिंड को जल में डालकर फिर तपावे। इस तरह तीन बार तपा कर जब एक दम लाल हो जाय तब जज उसे सड़सी से उठाकर—स्नात गीली धोती पहने सिरपर प्रतिज्ञापत्र बाधे पश्चिम मंडल में बैठे अभियुक्त के सामने ले आवे। फिर अभियुक्त यह मन्त्र पढ़े—'हे पावक तुम सब भूतों के भीतर रहते हो, साक्षीवत् मेरे पुण्यपाप को सत्य सत्य कह दो'। इस पर जज तप्त लोह को उसके हाथों में कई तरह के पत्तों समेत रख दे। अभियुक्त उसे हाथों में लिये सात मंडलों में पैर रखता हुआ सात पग चल कर नवम मंडल में लोहपिंड को डाल दे। इतने में यदि उसका हाथ न जले तो वह शुद्ध समझा जायगा॥

३—जलदिव्यप्रयोग

समुद्र या नदी या कोई ऐसा तड़ाग जहां सदा जल रहता है किसी ऐसे ही जलाशय के पास यह होगा। जिस जलाशय में घास या हिंस्र

जन्तु हों तहां नहीं हो सकता । जलाशय में नाभी तक गहरे जल में यज्ञिय काठ का एक खूंटा गाड़ना । उसके समीप पश्चिम ओर एक कोण बनाना । उसके पास १०६ अंगुल का एक बांस का धनुष और तीन बांस के तीर रखना । तोरण से १५० हाथ की दूरी पर अच्छे स्थान में एक लक्ष्य (निशाना) रखना । शर सहित धनुष की पूजा-जलाशय में वरुण का आवाहन और पूजा—तीर पर धर्म की पूजा से लेकर हवन पर्यन्त सब प्रक्रिया । यह हो जाने पर अभियुक्त के सिर में प्रतिज्ञापत्र बांध कर जज जल पर यह मन्त्र पढ़ें – 'हे जल ! तुम प्राणियों के प्राण, सृष्टि के आदि हो, मनुष्य तथा द्रव्यों की शुद्धि के कारण हो, कृपा कर, तुम पुण्य पाप की परीक्षा में अपना प्रभाव देखलाओ । अभियुक्त भी 'हे वरुण सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो' यह मन्त्र पढ़ कर जल का स्पर्श करेगा । फिर जल में गाड़े हुए खूंटे के पास नाभिमात्र जल में खड़ा एक बड़े बलवान् पुरुष के पास अभियुक्त जायगा । इसके बाद धनुष तीर लेकर कोई क्षत्रिय वा क्षत्रियवृत्ति ब्राह्मण तीनों शर निशाने पर चलावे । जज तीन बार ताली पीटेगा । तीसरी ताली पर अभियुक्त खूटे के पास जो बलवान् पुरुष है उसके घुटने पकड़ कर जल में डूबेगा, शरग्राही बड़ी तेजी से तोरण के पास जाकर देखेगा । यदि सिर भर भी अभियुक्त का देख पावे तो अभियुक्त शुद्ध समझा जायगा ।

४—विषदिव्यप्रयोग

पूर्व दिन में ब्राह्मण (जज) तथा अभियुक्त दोनों उपवास करेंगे । दूसरे दिन महेश्वर की पूजा करके उत्तराभिमुख जज दक्षिणाभिमुख अभियुक्त को विष पीने को देगा । विष की मात्रा वर्षा ऋतु में ४ यव, ग्रीष्म में ५ यव, हेमन्त शिशिर वसन्त में ७ यव, शरद ऋतु में ३ यव । जितना विष है उससे तीसगुना घृत के साथ विष को पीस कर दोपहर के पहले ठंढी जगह में देगा । देने के पहले यह मन्त्र पढ़ कर विष पीना होगा । 'हे विष ! तुम ब्रह्मा के पुत्र सत्यधर्म में व्यवस्थित हो, इस अभिशाप से मुझे बचाओ और सत्य के प्रभाव से तुम अमृत हो जाओ' । इसके बाद छाया में दिन भर बिना भोजन के बैठाया जाकर यदि विष-वेग को सह ले तो शुद्ध समझा जायगा ।

विषवेग के चिह्न यों है—पहले शरीर में रोमांच—तब क्रमशः पसीना, मुख सूखना, शरीर का रंग बदलना, कम्प, आंख पथराना, कंठ रुकना, हिक्का, श्वास की तेज़ी, बेहोशी, मरण।

५—कोशदिव्यप्रयोग

पूर्व दिन में उपवास करके दूसरे दिन जज प्रातः काल पूर्वोक्त सब विधान के बाद अभियुक्त को स्नान कराकर गीले कपड़े पहने सूर्याभिमुख मंडल में बैठा कर जिस देवता का वह भक्त हो उस देवता की मूर्ति को धोकर जलदिव्य वाला मन्त्र पढ़े और अभियोग—जो पाप लगाया गया—उस पाप का नाम लेकर मूर्ति के धोने का जल तीन सेर अभियुक्त को पीने के लिये देगा। अभियुक्त भी उसी मन्त्र को पढ़ कर जल पीलेगा। एक हफ्ता या दो हफ्ता तक यदि किसी प्रकार का क्लेश न देख पड़े—क्या अभियुक्त को या उसके लड़के वालों को—तो वह शुद्ध समझा जायगा।

६—तण्डुलदिव्यप्रयोग

तण्डुलदिव्य केवल चोरी में दिया जायगा। पूर्वरात्रि में देवपूजा कर के देवता के स्नानोदक में धान के चावल को मिट्टी के बरतन में भिंगो दे। सबेरे सूर्य के सामने अभियुक्त को चावल खिलाया जाय। थूकने पर यदि शुद्ध चावल का थूक निकले तो शुद्ध समझा जायगा। यदि थूकमें शोणित देख पड़े या शरीर में कम्प हो तो दोषी ठहराया जायगा।

७—तप्तमाषदिव्यप्रयोग

सोलह अंगुल का एक लोहे का या तांबे का या मिट्टी का पात्र बनवावे, चार अंगुल गहरा पात्र को २० पल घृत से भरे। घृत खौलने लगे तब एक माशा सोना उसमें डाल दे। उस सोने को अभियुक्त स्नान करके गीले कपड़े पहने अंगूठा और अंगुली से उसमें से निकाले। यदि फफोला न निकले तो शुद्ध समझा जायगा। खौलते हुए घृत पर यह मन्त्र पढ़ाजाय—'हे घृत ! तुम बड़े पवित्र यज्ञकर्म में अमृत हो, यदि यह पापी है तो इसे जलाओ यदि निर्दोष है तो इस के लिये ठंढे हो जाओ'।

फाल-दिव्य-प्रयोग

१२ पल का लोहे का दंड, ८ अंगुल लम्बा, ४ अंगुल मोटा, 'फाल' कहलाता है। तपा कर जब यह लाल हो जाय तो चोर इसे जीभ से चाटे। यदि न जले तो शुद्ध समझा जाय जले तो दोषी।

धर्मज दिव्यप्रयोग

एक पत्र में शुक्लवर्ण मूर्ति धर्म की और दूसरे पत्र में कृष्णवर्ण मूर्ति अधर्म की बनावे। दोनों की पूजा करके पंचगव्य से सिक्त करके धर्ममूर्तिवाले पत्र को शुक्ल पुष्प के साथ, अधर्म मूर्तिवाले पत्र को कृष्ण पुष्प के साथ, अलग अलग मिट्टी के पिंड में डालकर नये घड़े में रखदे॥ जज धर्मावाहन से लेकर होम तक सब विधान पूर्ववत् करके मन्त्र सहित प्रतिज्ञापत्र को अभियुक्त के सिर में बांधदे। 'यदि मैं शुद्ध हूं तो मेरे हाथ में धर्म आजावें' यह कह कर अभियुक्त घड़े में से एक मृत्पिंड निकाले। यदि धर्ममूर्तिवाला पिंड निकले तो शुद्ध समझा जाय॥

दंडादि-प्रकीर्ण

(विवादरत्नाकर ६२१—६६०)

दंड की स्मृतियों ने बड़ी महिमा गाई हैं। मनु महाराज ने इस महिमा के बखान में कई श्लोक लिखे हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि उचित दंड देने से यज्ञ करने का फल होता है, अधर्म दंड देने से धर्म तथा कीर्ति दोनों का नाश होता है॥ मनु ने कहा है जो दंड के योग्य नहीं है उसको यदि दंड दिया जाय और जो दंड के योग्य है उसको यदि दंड नहीं दिया जाय तो राजा को बड़ा अपयश होता है और वह नरक भी जाता है॥ वशिष्ठ ने प्रायश्चित्त भी बताया है—'यदि उचित दण्ड न दे तो राजा एक रात उपवास करे और पुरोहित तीन रात। यदि अदण्डनीय को दण्ड दे तो राजा तीन रात उपवास करे और पुरोहित तथा सदस्य कृष्णव्रत करें।

किन अवसरों पर दण्डनीय का दण्ड नहीं करनाही उचित होगा, इस विषय में कात्यायन ने कहा है—'यदि प्राणभय होने पर किसीने

अपराध किया है तो उस अपराध का दण्ड उसे नहीं होगा'—'जब किसी सज्जन सच्चरित्र से अकस्मात् विवश होने पर कोई अपराध हो जाय तो उसे दण्ड नहीं देना' इत्यादि ॥

प्रथम अपराध में उस अपराध का जो दण्ड विहित हो उसका चतुर्थांश दण्ड होगा —द्वितीय वार आधा—फिर पूर्ण ।

'जहां स्मृतियों में केवल संख्या लिखी है संख्येय नहीं तहां पण समझना' । अर्थात् जहां केवल इतनाही लिखा है कि २५० दण्ड होगा वहां २५० पण होगा ।

'जहां कई आदमियों ने मिल कर अपराध किया है तहां विहित दंड का द्विगुण दंड उनमें से हरएक को होगा ।

'शारीर' तथा 'आर्थिक' दो तरह के दंड होते हैं । 'शारीर दंड दो प्रकार का है—अवरोध (बन्धन) और प्राणान्त । अर्थ दंड अनेक प्रकार का - किनी (एक कौड़ी) से लेकर माषपर्यन्त । (नारद)

'जहां मामूली आदमी को एक कार्षापण दंड होगा वहां राजा को १००० कार्षापण' (मनु) ।

'अस्पृश्य, ठग, दास, तथा प्रतिलोमवर्णसंकर इनका अर्थ-दंड नहीं होगा । इनके लिये ताड़न ही दण्ड है । जो लोग परतन्त्र हैं (जैसे स्त्री), जो अनाथ हैं, उनका भी ताड़न ही दण्ड होगा । दास के लिये विशेष कर लिखा है कि इन्हें ताड़न (कोड़े की मार) बन्धन (कैदखाना) तथा विडम्बन (शिरमुड़ा कर गदहे पर घुमाना) ये ही दण्ड होंगे (कात्यायन) ।

कारीगर—चित्रकार—शूद्र इनका अपराध ऐसा भी हो जिसका दण्ड सर्वस्वहरण है तथापि इनके पास से कारीगरी के सामान नहीं छीने जायंगे । इसी तरह बनियों का तराजू बटखरा—खेतिहरों का खेत, बीआ खेती करने का अन्न, बैल, गाड़ी और जोताई के सामान । नाचने गाने-वालों का नाचने गाने के समान, ढोलक तबला सारंगी गहना कपड़ा इत्यादि । वेश्याओं के घर, पलंग, गहने, कपड़ा । सिपाहियों के अस्त्र शस्त्र । अर्थात् सबके जीविका के साधनों का अपहरण नहीं होगा । (शंखलिखित) ।

प्राणदंड की जगह १००० अशर्फी—अंगच्छेदन दंड की जगह ५००

अशर्फी—अंगूठा या अंगुली छेदन दंड की जगह २५० अशर्फी जुरमाना हो सकता है (नारद)। पर कात्यायन के अनुसार प्राणदंड के बदले १०० अशर्फी-अंगच्छेद के वद्ले ५० अशर्फी-देशनिष्कासन के बदले २५ अशर्फी जुरमाना हो सकता है।

इससे भी अधिक दया कात्यायन ने दिखलाई है—उत्तमकुल का पुरुष, धर्मिष्ठ पुरुष, या विशेष गुणवान् पुरुष-ये यदि निर्धन हों, तो प्राणदण्डयोग्य अपराध होने पर यदि १००० या १०० अशर्फी न दे सकें तो इनके पास जो कुछ हो सब जप्त कर लिया जायगा। अथवा शहर से निकाल दिये जायंगे, अथवा जेल में रक्खे जायंगे ॥ वध-दण्ड या अंगच्छेद दण्ड का पात्र यदि सच्चरित्र ब्राह्मण हो तो उसे ऐसे कमरे में रक्खा जाय जहां वह अपना कृत्य न कर सके [सदाचार पुरुष के लिये यह बड़ा भारी दण्ड है ॥]

ऐसा ब्राह्मण यदि झूठी गवाही दे तो देश से निकाला जाय ॥ अनुचित दान लेवे तो लोगों में अनुचितदानलेनेवाला ख्यात कर दिया जाय; किसी का अंगच्छेदन किया हो तो जेल में रक्खा जाय।

किसीका कान ओठ नाक पैर आंख जिह्वा लिंग या हाथ कोई काट डाले तो १००० जुरमाना देगा। यदि काटे नहीं, केवल तोड़े, तो ५००।

मनु ने कहा है—क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र यदि जुरमाना देने में असमर्थ हो तो काम करके उतना द्रव्य चुकादे। ब्राह्मण यदि एकमुष्टि न दे सके तो थोड़ा थोड़ा कर के चुकावे।

स्त्री, बालक, वृद्ध, उन्मत्त, रोगी, दरिद्र (जो काम करने के योग्य भी नहीं है—चाबुक से ही इनका दण्ड होगा।

कात्यायन के अनुसार स्त्री यदि धनवती है तो उसे जुरमाना देना होगा—यदि निर्धन है तो पीटी जायगी।

जब किसीको राजा ने अपराधी ठहराया तो उसे दण्ड देना चाहिये। दंड के चार भेद हैं—वाग्दंड, धिग्दंड, शरीरदंड, धनदंड। अपराध छोटा है तो वाग्दंड; लघु श्रेणी का अपराध है तो धिग्दण्ड,

मध्यम श्रेणी के अपराध में धनदण्ड; राजद्रोह के लिये शारीरदण्ड (बंधन) । देश निष्कासन भी एक प्रकार का दण्ड है । महापातकी को सभी दण्ड इकट्ठा भी दिये जा सकते हैं । अपने से श्रेष्ठों का, पुरोहितों का या माननीय पुरुषों का राजा केवल वाग्दण्ड करेगा । और अपराधियों पर जुरमाना-पर घोर अपराधियों का शारीर दण्ड ॥ वाग्दण्ड और धिग्दण्ड करना जज का काम है । अर्थदण्ड तथा शारीरदण्ड केवल राजा कर सकता है ॥ शारीरदण्ड के १४ स्थान हैं—हाथ, दोनों पैर, लिंग, आंख, जिह्वा, दोनों कान, नाक, गरदन, आधा पैर, अंगूठासहित तर्जनी, कपाल, ओष्ठ पश्चाद्भाग कमर ॥ ब्राह्मण के लिए केवल एक शारीर दण्ड है—कपाल में दागना । ब्राह्मण को महापातक के लिये भी प्राणदण्ड नहीं होगा—सिर मुड़वाकर और कपाल पर दाग कर वह देश से निकाला जायगा (बृहस्पति २७।४-११) ।

मनु (८।१२५) ने दश दण्ड के स्थान बतलाये हैं—(१)उपस्थ, (२) पेट (३) जीभ, (४) हाथ, (५) पैर (६) आंख, (७) नाक, (८) कान, (९) धन (१०) शरीर ।

'ब्राह्मण का अंगच्छेदन नहीं होगा । ब्राह्मण की शुद्धि तपस्या ही से होती है"—हारीत ॥

परन्तु ऐसा—सामान्यतः सभी ब्राह्मणों की अवध्यता—गौतम ने नहीं माना है । उनके मत से निम्नलिखित गुणवाला जो ब्राह्मण है सोही अवध्य- अताड़नीय है--'बहुश्रुत (बड़ाविद्वान्) वेदवेदाङ्ग विद्या जाननेवाला, बादशास्त्र-इतिहास-पुराण में कुशल, शास्त्रानुसार आचारवान्, ४० संस्कारों से संस्कृत, दान-अध्ययन-याग-कर्म में निरत, यज्ञ अध्ययन दान याजन अध्यापन प्रतिग्रह इन सभों में निष्णात' ।

शंखलिखित—'क्षत्रिय वैश्य शूद्र को धनदण्ड, कारागार, बन्धन, शारीर दण्ड, वध । ब्राह्मणों को महा अपराध में भी देशनिष्कासन और दागना । अथवा प्रायश्चित ही से ब्राह्मण की शुद्धि हो जायगी । ब्राह्मण के दागने के प्रसंग में मनु ने लिखा है—गुरुतल्पग के ललाट में स्त्रीचिह्न का दाग सुरापायी के ललाट में मद्य की दूकान का चिह्न, सुवर्ण चोराने में कुत्ते के पैर का चिह्न, ब्रह्मघाती को सिरकटा मनुष्य की मूर्ति (९।२३७) ।

आपस्तम्ब— नियम के विरुद्ध आचरण करनेवाले ब्राह्मण को या और लोगों को भी बांध कर रक्खे जब तक यह प्रतिज्ञा न करें कि फिर ऐसा न करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा न करे तो उसका नाश करना। 'नाश' का अर्थ विवादरत्नाकर (६-३७,) 'में देश से निकालना' लिखा है।

याज्ञवल्क्य— 'अपराध, देश, काल, अपराधी का वय, बल, कर्म-धम, इन सबका यथोचित विचार करके राजा अपराधियों का दण्ड करे"।(१।३६६)

मनु ने भी कहा है—'उद्देश्य, काल, देश, अपराध अपराधी की अवस्था—इन सभों का विचार करके राजा दण्ड देवे (८।१२६)। जब किसी अपराधी का अपराध प्रमाणित हो गया तो राजा को इस बात का विचार करना होगा कि किस उद्देश्य से—किस मतलब से—इसने यह काम किया। जैसे यदि चोरी किया तो क्या भूखे बालबच्चों को पालने के लिये किया या मद्यपान जूआ इत्यादि कुकर्मों के लिये? क्या जानबूझ कर किया या अज्ञान से धोखे में किया? क्या किसी दूसरे के बहकाने से किया या अपने ही मन से?—इत्यादि॥—'देश' —गांव में या जंगल में, या खेत में या बरबादी में॥—'काल'—रात में या दिन में, दुर्भिक्ष के दिन में या प्रचुर अन्न के समय में॥—'अवस्था' दंड सहन करने का सामर्थ्य॥ (मेधातिथि)

विष्णु—दोबारा यदि कोई उसी अपराध को करे तो क्षमा नहीं करना।

पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र, पुरोहित—कोई भी राजा के लिये अदंड्य नहीं है यदि वह अपने धर्म में स्थिर नहीं रहे (मनु)। ऋत्विक, पुरोहित, मन्त्री, पुत्र, सम्बन्धी, बान्धव—ये यदि धर्म से विचलित हों या राजद्वेषी हों तो दंडित कर के देश से निकाल दिये जायं (याज्ञवल्क्य)। पर शंखलिखित ने कहा है—"माता, पिता दंडनीय नहीं हैं—तथा स्नातक पुरोहित, परिव्राजक, वानप्रस्थ, सत्कुलोत्पन्न सदाचार सुशील सज्जन, स्त्री, बालक, वृद्ध, तपस्वी—ये भी दंड के योग्य नहीं हैं। क्योंकि ये अपने धर्म का अंश राजा को देते हैं"। कात्यायन ने भी ऐसाही कहा है—'आचार्य, पिता, माता, बान्धव—ये अपराध भी करें तो इनका दंड नहीं होगा'।

इन दोनों तरह के वाक्यों का विरोध देखकर विवादरत्नाकर पृ० ६२ ने यह सिद्धान्त किया है कि मनु तथा याज्ञवल्क्य ने जो पिता माता आदि की दंडनीयता बतलायी है तहां केवल वाग्दंड से मतलब है, और शंख तथा कात्यायन में जो इनको अदंडनीय कहा है तहां अर्थदंड और शारीरदंड से मतलब है। इसका सारांश यह हुआ कि पिता इत्यादि अपराध करें तो उनका वाग्दंड मात्र होगा और किसी प्रकार का दंड नहीं॥ बृहस्पति ने स्पष्ट कह दिया है—"गुरु, पुरोहित तथा और माननीय पुरुषों का केवल वाग्दंड होगा और वादियों का अर्थदंड, महापराधियों का वधदंड"। कात्यायन ने भी—मित्रादि तथा तपस्वियों का वागदंड होगा—ऐसा सिद्धान्त किया है।

मनु—'पहले अपराध में वाग्दंड करना (यह तुमने अच्छा नहीं किया)। उसके बाद धिगूदंड (ऐसे कुकर्मी को तुम्हें धिक्कार है)। फिर धनदंड (जुरमाना)। फिर वध दंड (शारीरदंड, मारपीट)। यदि शारीरदंड से भी न माने तो सभी दंडों का प्रयोग करना। (८।१२९—१३०)

जो आदमी रस्सी इत्यादि द्वारा आत्महत्या करे तो यदि मर गया तो मला उसके शरीर में लेपा जायगा। यदि बच गया तो दुगना दंड देना होगा (अंगिरा-विवादरत्नाकर ६६३)। यह दंड राजा अपनी तरफ से तीसगुना लगाकर वरुण को अर्पण करके ब्राह्मणों को देदेवे-ऐसी याज्ञवल्क्य की आज्ञा है (विवादरत्नाकर ६६३)।

अर्थदंड—जुरमाना की ३ श्रेणी हैं। लघु, मध्यम, उत्तम। इनकी संख्या यों कही गई है।

	लघु	मध्यम	उत्तम
शंखलिखित के अनुसार	२४ से ६१ पर्यन्त	२००-५००	६००-१०००
नारद	२४ से ९६ पर्यन्त	२००-५००	५००-१०००
मनु—विष्णु	२५०	५००	१०००
याज्ञवल्क्य	२५०	५४०	१०८०

मानसंख्या (मनु ८।१३२)

सूर्य किरण में जो सूक्ष्म कणां देख पड़ती है सबसे-न्यूनमान यही मानी गई है। नाम उसका रखा गया 'त्रसरेणु' तीन परमाणुओं का संग्रह— 'तीन' इस लिये कि तीनसे कम परमाणु होने से देख नहीं पड़ता।

८ त्रसरेणु = १ लिक्षा
३ लिक्षा = १ कृष्ण सर्षप
३ कृष्ण सर्षप = १ गौर सर्षप
६ गौरसर्षप = १ यव
३ यव = १ गुंजा वा कृष्णल
५ कृष्णल = १ माष
१६ माष = १ सुवर्ण
४ सुवर्ण = १ पल वा निष्क
१० पल = १ धरण

२ कृष्णल = १ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक = १ धरण, वा १ राजत पुराण
१० धरण = १ राजत शतमान
४ सुवर्ण = १ निष्क
ताबे का १ कर्ष (अर्थात् १६ माशा) = पण या कार्षापण

याज्ञवल्क्य के अनुसार 'सुवर्ण' पांच पल का भी होता है।

बृहस्पति के अनुसार—ताम्र कर्ष की मुद्रा को 'कार्षापण कहते हैं। उसीका नाम 'चन्द्रका' भी है॥ ४ कार्षापण = १ धानिका
१२ धानिका = सुवर्ण वा दीनार

नारद के अनुसार

४ काकनी = माष वा पण
२० माष = १ कार्षापण

नारद ने यह भी लिखा है कि यह परिमाण 'पञ्चनदी' (पंजाब ?) के समीप के व्यवहार के अनुसार है॥ दक्षिण में कार्षापण चांदी का चलता है। पूर्व देश में १६ पण का १ कार्षापण होता है।

जहां केवल एक पाद' या 'द्विपाद' इस प्रकार दंड लिखा है तहां 'सौवर्ण माष' का 'पाद' (चतुर्थांश) समझना। जहां 'माष' दंड लिखा है तहां चांदी का समझना। जहां 'कृष्णल' कहा है तहां सोने का समझना। (कात्यायन)

प्रकीर्ण

राजा का कर्त्तव्य

(विवादरत्नाकर पृ० ६२१—६४१)

याज्ञवल्क्य प्रजा के प्रति राजा का कर्त्तव्य बतलाते हैं—

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदांस्तथा।
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि (१।३५६)॥

यहां प्रजा के पांच विभाग पाये जाते हैं—(१) 'कुल' कुटुम्ब (अपरार्क); ब्राह्मणादि जातियों का (मिताक्षरा विवादरत्नाकर ६२३); ब्राह्मणादि समूह (वीरमित्रोदय)। (२) 'जाति' ब्राह्मणादि (अपरार्क ; मूर्धाभिषिक्त इत्यादि संकरजाति (मिताक्षरा; विवादरत्नाकर ६२३; वीरमित्रोदय)। (३) 'श्रेणी' सोनार इत्यादि (अपरार्क); तमोली इत्यादि (मिताक्षरा; विवादरत्नाकर ६२३); वणिक्समूह (वीरमित्रोदय); विवादरत्नाकर ६२४ में विदेश में व्यापार करनेवाले बनियों को 'श्रेणी' कहा है। (४) 'गण' महन्थ प्रभृति (अपरार्क); हेलावुकादि—अर्थात् घोड़े का व्यवहार करनेवाले (मिताक्षरा); नरादिसमूह (वीरमित्रोदय)। (५) 'जानपद' राज्यवासी (अपरार्क); कारीगर प्रभृति (मिताक्षरा); खेतिहर कारीगर इत्यादि (वीरमित्रोदय)।

इनमें से जब कभी कोई अपने धर्म से च्युत होवे तो राजा इन को दण्ड दे कर अपने धर्म पथ पर स्थिर करे—यह राजा का कर्त्तव्य है।

नारद की भी आज्ञा है—शास्त्रों में जो उपाय बताये गये हैं उनके द्वारा राजा सावधान हो कर सब आश्रम के लोगों का प्रतिपालन करे। जो जो जाति अपने विहित कार्य से नीचा या ऊंच व्यवहार करे उसे अपने धर्म से च्युत समझ कर राजा उचित पथ पर कर उसीपर स्थिर रक्खे।

देवीपुराण में लिखा है—लोक में दुराचार फैलने से देश का नाश होता है—इसलिये राजा को उचित है कि देशवासियों के आचरण का पूरा पता रक्खे और सभों को अपने अपने मार्ग पर दृढ़ रक्खे।

मनु —वैश्यों से वाणिज्य, खेती, रुपये की लगानी, पशुओं की रक्षा–शूद्रों से द्विजों की सेवा कराना। वैश्य और शूद्र को अपने कर्त्तव्य में तत्पर रखना। ये दोनों यदि अपने धर्म से च्युत हो जायं तो समस्त संसार क्षुब्ध हो जाय।

यम—भला या बुरा जो कुछ राजा करता है उसके भृत्य उसीका अनुकरण करते हैं। इसलिये राजा को उचित है कि निपुण मन्त्रियों की सहायता से वैराणिक धर्मों का अनुसरण करते हुए ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की उन्नति करे।

गौतम—इस संसार में दो आदमी धर्मरक्षणरूप व्रत के सङ्कल्पी हैं–राजा तथा विद्वान् ब्राह्मण। समस्त जीवों का जन्म जीवन मरण तथा शुद्ध धर्म इन्हीं दोनों पर निर्भर है।

वसिष्ठ —क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये तीनों जाति ब्राह्मण के अनुसार बरतें; ब्राह्मण धर्म समझावे—राजा शासन करे।

हारीत—निग्रहानुग्रह पालन रूप कर्म में परिषद् ही प्रधान है। दुराचारियों का शासन करनेवाला राजा है। शास्त्रों में राजा को 'शामियों का गुरु' और 'दुराचारियों का शास्ता' कहा है। गुप्त पापियों का शास्ता यम है। जो पापी पापों को छिपा कर राजा के दण्ड से बचते हैं वे यम के दण्ड से दंडित होते हैं।

महापातकी को यदि जुरमाना किया जाय तो वह जुरमाना राजा अपने कोश में न लावे। उसे जल में डाल कर वरुण को अर्पित कर के विद्वान् सदाचार ब्राह्मण को देदे। (मनु० ८।२४३-२४४)।

यम के अनुसार पतितों का धन हरण करके राजा परिषद् (सभा) को अर्पण कर दे और अन्न भृत्यों को दे दे।

कुछ फुटकर नियम (विवादरत्नाकर ३८-६४७)

नदियों में पार उतारने के लिये जो नाव रक्खी जायगी वह ऐसी होगी जिसमें १० खेनेवाले होंगे और २० खेने की डांड़ियां होंगी। दस खेनेवालों के सहायक और १० आदमी उसमे रहेंगे॥ नाव पर

जितना बोझा अन्नादि का लादा जा सकता हो उसके आधे से भी कम बोझ आदमियों का होगा। स्त्रियों का बोझ उसका भी आधा होगा॥ उतराई आठ माष देने होंगे। यह ऐसी नदियों में जिसके आरपार शर न फेंका जा सके। छोटी नदियों में जिनके आरपार शर फेका जा सके, उतराई कार्षापण का चतुर्थ भाग होगा। जहां पारवारी में पानी नहीं है तहां केवल माष देना होगा। (वसिष्ठ)।

'खाली रथ की उतराई १ पण, पुरुष के बोझा की उतराई आधा पण, पशुकी उतराइ पण का चतुर्थ भाग, स्त्री और खाली पुरुष की उतराई पण का अष्टम भाग' (मनु)। फिर—'जो यान, रथ इत्यादि माल से पूर्ण हो उसकी उतराई माल की कीमत के अनुसार होगी—खाली यान या बिना बोझ के आदमी की उतराई कुछही नाम मात्र की होगी। 'दो मास से अधिक गर्भवाली स्त्री, संन्यासी, ब्रह्मचारी—इनको उतराई नहीं देनी होगी'।

वसिष्ठ—'श्रोत्रिय, राजा, अनाथ पुरुष, संन्यासी, बालक, अतिवृद्ध, नवप्रसूता स्त्री, चीठी ले जानेवाला, कुमारी, विधवा—इन्हें किसी तरह की उतराई नहीं देनी होगी। जो मनुष्य उतराई बचाने की गरज से नदी को तैर जाय उसे मामूली उतराई का सौगुना देना होगा।'

नदी की उतराई वाला ठीकेदार यदि सड़क की टैक्स वसूल करे तो उसे ० पण दंड होगा। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भिक्षु, गर्भिणी, तीर्थ यात्रिक—इनसे यदि उतराई वसूल करे तो वसूल करनेवाले को ० पण दंड देना होगा और उतराई जो वसूल किया होगा सो वापस करना होगा'। (विष्णु)।

नाव यदि मल्लाहों के अपराध से कुछ नुकसान हो जाय तो वह उन्हीं को पूरा करना होगा (मनु)

ब्राह्मणों के कुछ विशेष अधिकार हैं—जिनको शंखलिखित ने संगृहीत किया है (विवादरत्नाकर पृ० ६६०-६१)। (१) जंगल में जहां से चाहें जल, अग्नि, काष्ठ, इन्धन, तृण, पुष्प, फल, पत्तियां ले सकते हैं। (२) मन्दिरों में तीर्थों में, जहां चाहें जा सकते हैं। (३) जिस किसी

के घर में भंडार में जा सकते हैं। (४) रास्ते में अस्त्र धारण कर सकते हैं। (५) जहां चाहे बैठ सकते हैं। (६) उनके भय से काम में कोई रोक टोक नहीं करेगा। (७) काम पड़ने पर दुष्टों के साथ बैठ सकते हैं। (८) अन्नराशि में से शिलोञ्छवृत्ति के अनुसार ले सकते हैं। ऋण का सूद, खेती, क्रयविक्रय, नदी की उतराइ इत्यादि देने के विषय में तंग नहीं किये जायंगे। परस्त्री से सम्भाषण तथा राजा की स्त्री का दर्शन कर सकते हैं। राजा के समान आसन पर बैठ सकते हैं इत्यादि।

इसी तरह नगरवासियों के भी कुछ विशेष अधिकार शंखलिखित ने लिखे हैं—'काम करा कर मेहनताना न दे, या किसी को चीठी लेकर भेजकर वेतन न दे, अपनी कमाई राजा को या राज कर्मचारियों को बिना कहे शहर के बाहर लेजाय या भीतर लावे, कन्धे पर बोझा मंगवा कर उसका बेतन न दे, गण श्रेणी इत्यादि के आपस में---राजद्रोह को छोड़ कर—सब मामलों को आपस में पंचों के द्वारा ते करे— इत्यादि अपराध में इनका दंड नहीं होगा।

अबतक साधारण नियमों का निरूपण हुआ। इसके आगे निबन्धों में विशेष नियमों के विचार हैं। इन्हें १८ भाग में विभक्त किया है जो १८ विभाग १८ विवादस्थान नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अठारहों का विचार करने का अवसर अभी नहीं है। इसमें वहुत अधिक समय की अपेक्षा होगी। पर एक विचार दायभाग के प्रसंग में पाया जाता है उसको एक तरह से हम साधारण मान सकते हैं।

'दायभाग' पद के अर्थ की विवेचना करते हुए मिताक्षराकार ने यह विचार उपोद्घातरूपेण उठाया है कि 'दाय' पैतृकधन का जब 'विभाग' किया जाता है तब क्या होता है? जो धन विभजनीय है उसपर विभाग करनेवाले हिस्सेदारों का स्वत्व पहले उनके जन्म से रहा, पर सम्मिलित रहा; विभाग के समय उस स्वत्व ही का विभाग होता है—या विभाग से पहले उनका स्वत्व नहीं रहा–विभाग ही से वह स्वत्व उत्पन्न होता है? इसी सम्बन्ध में दूसरा विचार स्वत्व ही के विषय में सूक्ष्मरूप से किया गया है। प्रश्न यह है कि 'स्वत्व' को हम

किस प्रमाण से जान सकते हैं ? किसी धन में किसी का स्वत्व है इसमें क्या प्रमाण है ? क्या केवल शास्त्रों हीं से हम इसे जान सकते हैं या और किसी लौकिक प्रमाण से ?

इस विचार में पूर्वपक्ष यों उपस्थित होता है–"स्वत्व को हम केवल शास्त्रों ही से जान सकते हैं–दूसरा प्रमाण इसमें नहीं हो सकता"। गौतम ने अपनी स्मृति में कहा है कि 'दाय-क्रय–विभाग–परिग्रह–अधिगम' इनके ही द्वारा कोई किसी धन का स्वामी हो सकता है। 'ब्राह्मण के लिये प्रतिग्रह–क्षत्रियों के लिये विजय–और वैश्यशूद्रों के लिये कृषि और सेवा से भी'। यदि स्वत्व में लौकिक ही प्रमाण लागू होते–यदि हमें और ही प्रमाणों से "ज्ञात होता कि स्वत्व कैसे होता है तो गौतम के इस वचन लिखने की क्या आवश्यकता होती ? गौतमस्मृति शास्त्ररूप है–जो अर्थ लौकिक प्रमाणगम्य होता है उसमें शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता नही हो सकती है। इस लिये गौतम का वचन व्यर्थ हो जायगा ॥ फिर मनु ने (८।३४०) कहा है कि–'यदि ब्राह्मण उचित वृत्ति द्वारा भी चोर से धन पाने की इच्छा करे तो वह चोर ही समझा जायगा'। यदि स्वत्व लौकिक प्रमाणगम्य होता तो चोर को पढ़ाकर धन उपार्जन करने में क्या दोष था ? पढ़ाना बुरा नहीं है, पढ़ा कर धन उपार्जन करना भी बुरा नहीं है। तब चोर को पढाकर यदि कोई धन उपार्जन करे तो वह दोषी क्यों समझा जाय ? उसके दोषी होने का कारण यही है कि ऐसा उपार्जन शास्त्र में निषिद्ध है और शास्त्र-विहित ही उपार्जन से स्वत्व हो सकता है। इसलिये मनु के वचन से भी स्पष्ट होता है कि स्वत्व के लिये केवल शास्त्र ही प्रमाण है ॥ फिर यदि स्वत्व लौकिक होता तो मेरा स्व–अर्थात् धन–इसने लेलिया'-यह दोष क्यों किसीके ऊपर लगाता ? जिसने धन लेलिया प्रत्यक्ष प्रमाण से तो उसीका स्वत्व हो गया, फिर दोष क्या ? चोरी भी क्यों दुष्ट समझी जाती ? ये सब दुष्ट इसी लिये समझे जाते हैं क्योंकि ऐसा स्वत्व शास्त्र-विहित नहीं है। फिर किसी धन के विवाद में यह संशय ही क्यों होता कि इसमें किसका स्वत्व है। जिसके पास जो धन प्रत्यक्षप्रमाण से देखा जाता उसीका स्वत्व निश्चित हो जाता। फिर संशय कैसा ? इन सब कारणों से यह

मानना पड़ेगा कि स्वत्व के विषय में केवल शास्त्र ही एक प्रमाण हो सकता है।"

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तपक्ष यों है--

स्वत्व लौकिक प्रमाणगम्य है, क्योंकि लौकिक क्रिया का साधन होता है। शास्त्र के प्रमाणगम्य जो कुछ है-जैसे आहवनीय अग्नि-सो शास्त्रगम्य अर्थात् अलौकिक ही क्रिया —यज्ञादि-का साधन होता है, लौकिक क्रिया- खाना पीना—इत्यादि का नहीं। पर धन के स्वत्व से तो खाना पीना पहनना चलना फिरना इत्यादि सब लौकिक ही कार्य होते हैं। फिर यह भी विचारणीय है कि यदि स्वत्व शास्त्रमात्रगम्य होता तो जिस देश में या जिन समाजों में शास्त्रों की प्रवृत्ति नहीं है—जैसे जंगलियों में-तहां स्वत्व का ज्ञान या व्यवहार नहीं होता। पर हम देखते हैं कि स्वत्व का ज्ञान तथा व्यवहार सभी देश और सभी समाज में है। सर्वत्र क्रय-विक्रय-खरीदफरोख्त-का व्यवहार चलता है। स्वत्वपरिवर्तनही तो क्रयविक्रय से होता है।

पूर्वमीमांसा में भी द्रव्यार्जनाधिकरण में (४।१।२) स्वत्वको लौकिक ही माना है।

इस लौकिक स्वत्व के उपाय भी लौकिक ही दायक्रयादि बताये गये हैं। (१) दाय —अप्रतिबन्ध, जहां पूर्वस्वामी के साक्षात्सम्बन्धद्वारा धन प्राप्त होता है, जैसे पिता का धन पुत्र को पिता के रहते भी होता है। (२) विभाग —सप्रतिबन्धदाय, जिसमें पूर्वस्वामी का जीवन धनप्राप्ति में प्रतिबन्धक रहता है। जैसे चाचा का धन जो भतीजे को प्राप्त होता है सो चाचा के मरने ही पर ॥ (३) क्रय-खरीद ॥ (४) परिग्रह-जंगल इत्यादि में बिना मालिक के वस्तु का संग्रह ॥ (५) अधिगम—ज़मीन के भीतर द्रव्यादि का पाना ॥ इन्हीं के द्वारा स्वत्व उत्पन्न होता है। ये उपाय सभी आदमियों के लिये हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों के लिये 'प्रतिग्रह' (दानलेना; पढ़ाना, यज्ञ कराना), क्षत्रियों के लिये 'विजय' (लड़ाई में जीत) वैश्यों के लिये' खेती गोरक्षा इत्यादि, शूद्रों के लिये सेवा ॥ इसी तरह सूतों के लिये घोड़ा हांकना इत्यादि।'

पूर्वपक्ष में यह कहा गया है कि "यदि स्वत्व लौकिक हो तो मेरा स्व (धन) अमुकने लेलिया है" सो नही कहा जा सकता। पर यह ठीक नहीं। क्योंकि स्वत्व में तो सीधे सन्देह नहीं होगा क्योंकि सब लोग प्रत्यक्ष देखेंगे कि धन अमुक आदमी के पास है; पर वादी के उपस्थित होने पर नालिश करने पर सन्देह होता है उपाय के प्रसङ्ग। अर्थात् अमुक आदमी का जो स्वत्व हम देख रहे हैं सो किस उपाय से उसका हुआ–उचित उपाय से या अनुचित उपाय से ? जैसे मनु ने (१०।११५) सात धनागम के उपायों को 'धर्म्य'—उचित बताया है। दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग (लगानी) कर्मयोग (व्यवसाय वाणिज्य), सत्प्रतिग्रह (सज्जनों से दान ग्रहण)।

स्वत्व लौकिक है यह तो हुआ। अब दूसरा विचार यह उपस्थित होता है–क्या धन के विभाग (बंटवारा) से हिस्सेदारों के स्वत्व उत्पन्न होते हैं? या पहले से जो स्वत्व वर्त्तमान था (पर सम्मिलित रूप से) उसीका विभाग (बटवारा) होता है।

इस विचार में पूर्वपक्ष यों उद्भावित होता है—

"विभाग से स्वत्व उत्पन्न होता है, जन्मही से स्वत्व नही रहता। यदि जन्म के साथ ही पुत्र का पैतृकसम्पत्ति में स्वत्व होता तो पुत्र जन्म के बाद पिता को उस धन के द्वारा अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान में अधिकार नहीं होता। क्योंकि उस धन पर पिता का पूरा स्वत्व नहीं है। पर शास्त्रों में पुत्रजन्म के बादही अग्न्याधान, अग्निहोत्र आदि कर्म में अधिकार लिखा है। फिर शास्त्रों में यह भी लिखा है कि पुत्रों के बटवारा करने के पहले जो कुछ धन पिता ने किसी एक पुत्र को प्रसन्न हो कर दिया हो तो उस धन को उसके भाई न बांट सकेंगे। यह भी नही सम्भव होता, यदि जन्मही से सब पुत्रों का स्वत्व कुल धन पर होता; क्योंकि एक तो पिता को इस तरह धन देने का अधिकार ही नही होगा। यदि दे सकेगा तो सब पुत्रों के अनुमति ही से। पर ऐसी स्थिति में फिर और पुत्र बांटने क्यों जाते, जिसका प्रतिषेध शास्त्रों में पाया जाता है। इन सब कारणों से यह स्पष्ट होता है कि जन्म से ही स्वत्व नहीं होता। पूर्व स्वामी के मरण से या उसके रहते भी विभाग से स्वत्व उत्पन्न होता है।"

सिद्धान्त का निर्णय यों है—

स्वत्व लोकप्रसिद्ध होता है, ऐसा सिद्धान्त हो चुका है। लोकही में यह बात भी प्रसिद्ध है कि जन्म होते ही पुत्र का स्वत्व धन में हो जाता है। 'विभाग', 'बटवारा' भी वहीं पर होता है या कहा जाता है जहां धन के स्वामी (अर्थात् स्वत्ववाले) एक से अधिक हैं। गैतम ने भी आचार्यों का मत बतलाया है कि 'मनुष्य जन्म ही से स्वत्व पाता है'। फिर स्मृतियों में कहा है— मणि-मुक्ता-प्रबाल इन सब धनों का पिता प्रभु है जो चाहे सो कर सकता है, पर स्थावर धन का प्रभु न पिता है न पितामह'। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि पुत्रों का स्वत्व जन्मही से आजाता है, जिसके प्रभाव से पिता या पितामह प्रभु (जो चाहे सोकरने वाला) नहीं होता। प्रसन्न होकर पिता ने जो कुछ धन किसी एकको दिया— तिसके प्रसंग में जो वाक्य पूर्वपक्ष में उदाहृत है सो पिता के स्वार्जितधन के प्रसङ्ग कहा है जिससे वह प्रीतिदान पुत्रों की अनुमति से कर सकता है। धनसाध्य अग्निहोत्रादि कर्म के अनधिकार के प्रसंग जो युक्ति पूर्वपक्ष में उद्भावित हुई है इसके प्रति यही सिद्धान्त है कि 'पुत्र-जन्म के बाद अग्न्याधान इत्यादि कर्म करना' ऐसा वेदविधि ही इस बात को सूचित करता है कि धनप्रयोग करके इन कामों के करने का अधि-कार पिता को है। इन सब युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि पिता तथा पितामह के धन में जन्मही से स्वत्व होता है। पर ऐसा होते हुए भी स्थावर धन से अतिरिक्त जो धन है उसमें से वेदविहित कर्मानुष्ठान, प्रीतिदान कुटुम्ब भरण विपत्ति का निवारण—ऐसे कामों में व्यय करने का पिता का पूरा अधिकार है। किन्तु स्थावर धन से, चाहे वह धन स्वोपार्जित है या पैतृक सम्पत्ति है—व्यय करने में पुत्रों की अनु-मति की अपेक्षा होगी। ऐसा इन स्मृतिवाक्यों से सूचित होता है।

स्थावर धन यद्यपि स्वोपार्जित हो तथापि उसका दान या विक्रय बिना सब पुत्रों को इकट्ठा किए (उनकी अनुमति बिना) नहीं होसकता।

'जिनका जन्म हो चुका, जिनका जन्म होनेवाला है, जो गर्भस्थित हैं, ये सब जीविका की अपेक्षा करते हैं। इस लिए दान विक्रय (स्थावर धन का) नहीं हो सकता'।

इस नियम का अपवाद भी पाया जाता है। जब समस्त कुटुम्ब पर कोई विपत्ति आपड़े उससे बचाने के लिये, या कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये, या पितृश्राद्ध ऐसे आवश्यक कार्य के लिये, अकेला भी हिस्सेदार दान विक्रय कर सकता है, यदि पुत्र या और हिस्सेदार बालक हैं या और किसी कारण से अनुमति देने के योग्य नहीं हैं। जहां जहां इसका निषेध है तहां यही तात्पर्य है कि औरों की अनुमति बिना अविभक्त स्थावर धन का दान या विक्रय नहीं हो सकता।

विषयसूची

अकारादिक्रम से